हनुमानप्रसाद पोद्दार

मुद्रक तथा प्रकाशक–
घनश्यामदास जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर।

सं० १९९२
प्रथम संस्करण ३२५०
मूल्य ।≈) छः आना

श्रीहरिः

प्रार्थना

उपनिषद् हमारी वह अमूल्य निधि है, जिसमें संरक्षित विविध ज्ञानविज्ञानमयी अचिन्त्य रत्नराशिकी निर्मल सच्चिदानन्दमयी ज्योतिका एक कण प्राप्त करनेके लिये समस्त संसारके तत्त्वज्ञ श्रद्धापूर्वक सिर झुकाये और हाथ पसारे खड़े है। उपनिषदोंमे उस कल्याणमय ज्ञानका अखण्ड और अनन्त प्रकाश है जो घोर क्लेशमयी और अन्धकारमयी भवाटवीमे भ्रमते हुए जीवको सहसा उससे निकालकर नित्य निर्बाध ज्योतिर्मयी और पूर्णानन्दमयी ब्रह्मसत्तामे पहुँचा देता है। आनन्दकी बात है कि आज उन्ही उपनिषदोसे चुनी हुई कुछ कथाएँ पाठकोके भेट की जा रही है। लगभग दस वर्ष पूर्व बम्बईमे 'उपनिषदोनी वातो' नामक एक गुजराती पुस्तक देखी थी, तभी हिन्दीमे भी वैसी ही कथाएँ लिखनेका मन हुआ था। और उसी समय कुछ कथाएँ लिखी गयी थी। उनमेंसे कुछ तो बिल्कुल गुजरातीकी शैलीपर ही थी और कुछ अन्य प्रकारसे। वे ही कथाएँ अब पाठकोको पुस्तकरूपमे मिल रही है। इसके लिये गुजराती पुस्तकके लेखक और प्रकाशक महोदयका मै हृदयसे कृतज्ञ हूँ। इस छोटी-सी पुस्तकसे हिन्दीके पाठकोने यदि लाभ उठाया तो सम्भव है आगे चलकर उपनिषदोकी ऐसी ही चुनी हुई अन्यान्य कथाओके प्रकाशनकी भी चेष्टा की जाय। भूलचूकके लिये विद्वान् पाठक क्षमा करे और कृपापूर्वक सूचना दे दें जिससे यदि दूसरा संस्करण हो तो उस समय उचित सुधार कर दिया जाय। आशा है पाठक इस प्रार्थनापर ध्यान देगे।

विनीत

हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

विषयसूची

विषय		पृष्ठसंख्या

श्रीहरिः

चित्रसूची

पृष्ठ

उमा और इन्द्र

श्रीहरिः

उपनिषदोंके चौदह रत्न

(१)

ब्रह्म ही विजयी है

एक समय स्वर्गके देवताओंने परमात्माके प्रतापसे असुरोंपर विजय प्राप्त की। इस विजयसे लोगोंमें देवताओंकी पूजा होने लगी। देवोंकी कीर्ति और महिमा सब तरफ छा गयी। विजयोन्मत्त देवता भगवान्‌को भूल-कर कहने लगे कि हमारी ही जय हुई है। हमने अपने पराक्रम

और बुद्धिबलसे दैत्योंका दलन किया है, इसीलिये लोग हमारी पूजा करते है और हमारे विजयगीत गाते हैं। मद अंधा बना देता है, देवता भी विजयमदमे अंधे होकर इस बातको भूल गये कि कोई सर्वशक्तिमान् ईश्वर है और उसीके बल और प्रभावसे सब कुछ होता है। उसकी सत्ता बिना पेडका एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

भगवान् बडे दयालु है। उन्होने देखा कि देवतागण मिथ्या अभिमानमें मत्त होकर मुझे भूलने लगे है, यदि इनके यह अभिमान दृढ हो गया तो असुरोकी भाँति इनका भी सर्वनाश हो जायगा। विजय प्राप्त करनेपर जहाँ सत् पुरुषोंमे नम्रता आती है वहाँ इनमे अभिमान बढ रहा है। यो विचारकर देवताओंके अभिमान-का नाश कर उनका उपकार करनेके लिये परमात्मा ब्रह्मने अपनी लीलासे एक ऐसा अद्भुत कौतहलप्रद रूप प्रकट किया जिसे देखकर देवताओंकी बुद्धि चक्कर खा गयी। देवता घबराये और उन्होंने इस यक्षसदृश रूपधारी अद्भुत पुरुषका पता लगानेके लिये अपने अगुआ अग्निदेवसे कहा कि 'हे जातवेदस् * ! हम सबमे आप सर्वापेक्षा अधिक तेजस्वी है, आप इनका पता लगाइये कि ये यक्षरूप वास्तवमे कौन हैं?' अग्निने कहा 'ठीक है, मैं पता लगाकर आता हूँ।' यो कहकर अग्नि वहाँ गये, परन्तु उसके समीप पहुँचते ही तेजसे ऐसे चकरा गये कि बोलनेतकका साहस नहीं हुआ। अन्तमे उस यक्षरूपी ब्रह्मने अग्निसे पूछा कि

* जातवेदस्का अर्थ धनका दाता या उत्पन्न हुए समस्त पदार्थोंका ज्ञाता होता है।

'तू कौन है ?' अग्निने कहा—'मेरा नाम प्रसिद्ध है, मुझे अग्नि कहते है और जातवेदस् भी कहते है ।' ब्रह्मने फिर पूछा—'यह सब तो ठीक है; परन्तु हे अग्नि ! तुझमे किस प्रकारका सामर्थ्य है, तू क्या कर सकता है ?' अग्निने कहा—'हे यक्ष ! इस पृथिवी और अन्तरिक्षमे जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम पदार्थ है उन सबको मै जलाकर भस्म कर सकता हूँ ।'

ब्रह्मने सोचा कि इसका अहङ्कार बातोंसे नही दूर होगा, इसको कुछ चमत्कार दिखलाना चाहिये। यो सोचकर ब्रह्मने उसमेंसे अपनी शक्ति खींच ली और **'तस्मै तृणं निदधौ'**—उसके सामने एक सूखे घासका तिनका डालकर कहा कि 'और सबको जलानेकी बात तो पीछे देखी जायगी, पहले **'एतद्दह'**—इस तृणको तू जला !'

अग्निदेवता अपने पूरे वेगसे तृणके निकट गये और उसे जलानेके लिये सर्व प्रकारसे यत्न करने लगे, परन्तु तृणको नहीं जला सके । लज्जासे उनका मस्तक नीचा हो गया और अन्तमे यक्षसे बिना कुछ कहे ही अग्निदेवता अपना-सा मुँह लिये देवताओ-के पास लौट आये और कहा कि 'मै तो इस बातका पता नहीं लगा सका कि यह यक्ष कौन है ?'

इसके बाद देवताओने वायुसे कहा कि 'हे वायो ! तुम जाकर पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है ।' वायुदेव 'बहुत अच्छा' कहकर यक्षके पास गये; परन्तु उनकी भी अग्निकी-सी दशा हो गयी, वे बोल नहीं सके—

यक्षने पूछा, 'तू कौन है?' वायुने कहा—'मैं वायु हूँ, मेरा नाम और गुण प्रसिद्ध है—मैं गमनक्रिया करनेवाला और पृथ्वीकी गन्धको वहन करनेवाला हूँ। अन्तरिक्षमें गमन करनेवाला होनेके कारण मुझे मातरिश्वा भी कहते हैं।' यक्षने कहा—'तुझमें क्या सामर्थ्य है?' वायुने कहा—'इस पृथ्वी और अन्तरिक्षमें जो कुछ भी पदार्थ है उन सबको मैं ग्रहण कर सकता हूँ (उड़ा सकता हूँ)।' ब्रह्मने वायुके सम्मुख भी वही सूखा तिनका रख दिया और कहा **'एतदादत्स्व'**—इस तिनकेको उड़ा दे।

वायुने अपना सारा बल लगा दिया, परन्तु तिनका हिला भी नहीं। यह देखकर वायुदेव बड़े लज्जित हुए और तुरन्त ही देवताओंके पास आकर उन्होंने कहा—'हे देवगण! पता नहीं, यह यक्ष कौन है; मैं तो कुछ भी नहीं जान सका।'

जब मुनीमोंसे काम नहीं होता तब मालिककी बारी आती है। इसी न्यायसे देवताओंने इन्द्रसे कहा कि 'हे देवराज! अब आप जाइये।' इन्द्र यक्षके समीप गये। देवराजको अभिमानमें भरा हुआ देखकर यक्षरूपी ब्रह्म वहाँसे अन्तर्धान हो गये, इन्द्र-का अभिमान चूर्ण करनेके लिये उनसे बाततक नहीं की। इन्द्र लज्जित तो हो गये, परन्तु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और ध्यान करने लगे। इतनेमें उन्होंने देखा कि अन्तरिक्षमें अत्यन्त शोभायुक्त और सब प्रकारके उत्तमोत्तम अलङ्कारोंसे विभूषित हिमवान्की कन्या

भगवती पार्वती उमा खड़ी है। पार्वतीके दर्शन कर इन्द्रको हर्ष हुआ और उन्होने सोचा कि पार्वती नित्य ज्ञानबोधस्वरूप भगवान् शिवके पास रहती है, अतएव इन्हे यक्षका पता अवश्य ही मालूम होगा। इन्द्रने विनयभावसे उनसे पूछा—

'माता! अभी जो यक्ष हमे दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये वे कौन थे?' उमाने कहा—'वह यक्ष प्रसिद्ध ब्रह्म था। हे इन्द्र! इस ब्रह्मने ही असुरोको पराजित किया है, तुम लोग तो केवल निमित्तमात्र हो; ब्रह्मके विजयसे ही तुम लोगोंकी महिमा बढ़ी है और इसीसे तुम्हारी पूजा भी होती है। तुम जो अपना विजय और अपनी महिमा मानते हो सो सब तुम्हारा मिथ्या अभिमान है, इसे त्याग करो और यह समझो कि जो कुछ होता है सो केवल उस ब्रह्मकी सत्तासे ही होता है।'

उमाके वचनोसे इन्द्रकी आँखें खुल गयीं, अभिमान जाता रहा। ब्रह्मकी महान् शक्तिका परिचय पाकर इन्द्र लौटे और उन्होने अग्नि और वायुको भी ब्रह्मका उपदेश दिया। अग्नि और वायुने भी ब्रह्मको जान लिया। इसीसे ये तीनों देवता सबसे श्रेष्ठ हुए। इनमें भी इन्द्र सबसे श्रेष्ठ माने गये। कारण, उन्होने ब्रह्मको सबसे पहले जाना था। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मको सबसे पहले जाननेवाला ही सर्वश्रेष्ठ है।

(केन उपनिषद्के आधारपर)

अनोखा अतिथि
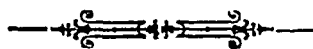
सत्ययुगका पवित्र काल है। देशभरमे यज्ञोका प्रचार हो रहा है। यज्ञधूममे और उसकी पवित्र सौरभसे आकाश भरा हुआ है। वेदके वरद मन्त्रोसे दिशाएँ गूँजती है। यज्ञका हवि ग्रहण करनेके लिये स्वर्गसे देवगण पृथिवीपर उतरते है। पवित्र और आनन्दमयी वाद्यध्वनिसे समस्त जीव प्रफुल्लित हो रहे है। यज्ञकर्ता यज्ञकी

अतिथि नचिकेताकी सेवामें यमराज

पूर्णाहुति होनेपर परम श्रद्धासे ऋत्विक्‌गणको दक्षिणा बाँटते है। आकांक्षारहित होकर सात्त्विक यज्ञकर्ता वेदविधिका पूर्णतया पालन करते हुए समस्त कार्य सम्पादन करते है। ऐसे पवित्र युगमें ऋषि वाजश्रवाके सुपुत्र उद्दालक मुनिने विश्वजित्‌ नामका एक यज्ञ किया। इस यज्ञमे सर्वस्व दान करना पडता है। तदनुसार वाज-श्रवस (वाजश्रवाके पुत्र) उद्दालकने भी 'सर्ववेदसं ददौ'—अपना सारा धन ऋषियोको दे दिया। ऋषि उद्दालकके नचिकेता नामक एक पुत्र था। जिस समय ऋषि ऋत्विज और सदस्योको दक्षिणा बाँट रहे थे और उसमे अच्छी-बुरी सभी तरहकी गौएँ दी जा रही थीं उस समय बालक नचिकेताके निर्मल अन्तःकरणमे श्रद्धाने प्रवेश किया। नचिकेताने अपने मनमे सोचा—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्‌ स गच्छति ता ददत्‌॥

(कठ० १।१।३)

'जो गौएँ (अन्तिम बार) जल पी चुकी है, घास खा चुकी है और दूध दुहा चुकी है; जो शक्तिहीन अर्थात्‌ गर्भ धारण करनेमे असमर्थ है, ऐसी गायोको जो दान करता है वह उन लोकोको प्राप्त होता है जो आनन्दसे शून्य है।'

यज्ञके बाद गौदान अवश्य होना चाहिये, परन्तु नही देने योग्य गौके दानसे दाताका उलटा अमङ्गल होता है। इस प्रकारकी भावनासे सरलहृदय नचिकेताके मनमे बडी वेदना हुई और अपना बलिदान देकर पिताका अनिष्ट निवारण करनेके लिये उसने कहा—

तत कस्मै मां दास्यसीति।

'हे पिताजी ! मै भी आपका धन हूँ, मुझे आप किसको देते है ?' पिताने कोई उत्तर नहीं दिया। नचिकेताने फिर कहा— 'पिताजी ! मुझे किसको देते है ?' पिताने इस बार भी उपेक्षा की। धर्मभीरु नचिकेतासे नहीं रहा गया। उसने तीसरीवार फिर वही प्रश्न किया। ऋषि चिढ गये और खीझकर कह उठे—'तुम्हे देता हूँ मृत्युको'

'मृत्यवे त्वा ददामीति'

पिताके क्रोधभरे वचन सुनकर नचिकेता सोचने लगा कि 'शिष्य और पुत्रोकी तीन श्रेणियाँ हुआ करती हैं—उत्तम मध्यम और अधम। जो गुरुका अभिप्राय समझकर उसकी आज्ञाकी कोई प्रतीक्षा किये विना ही सेवा करने लगते है वे उत्तम हैं। जो आज्ञा पानेपर कार्य करते हैं वे मध्यम है। और जो गुरुका अभिप्राय समझ लेने और आज्ञा सुन लेनेपर भी गुरुकी इच्छानुसार कार्य नही करते वे अधम कहलाते है। मै प्रथम श्रेणीमे चाहे न होऊँ पर दूसरीमे तो अवश्य हूँ; मै अधम तो कदापि नहीं हूँ। मुझ सरीखे गुणसम्पन्न पुत्रको पिताजीने, न मालूम, क्यो यमको दे दिया ? मृत्यु-देवताका मुझसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? सम्भवतः पिताजीने क्रोधके आवेशमे ही ऐसा कह दिया है; परन्तु जो कुछ भी हो, पिताजीका वचन असत्य नहीं होना चाहिये।' यो विचारकर उसने यमराजके यहाँ जानेका ही निश्चय कर लिया। धन्य पितृभक्ति और धन्य त्याग !!

पुत्रकी व्यवस्था देख ऋषि एक ओर बैठे पछता रहे थे कि

मैने क्रोधमे पुत्रसे क्या कह दिया, इतनेहीमें नचिकेताने जाकर पितासे कहा—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे ।
शस्यमिव मर्त्यः पच्यते शस्यमिवाजायते पुनः ॥

(कठ० १ । १ । ६)

'हे पिताजी ! अपने पूर्वजोका व्यवहार देखिये, इस समयके साधु पुरुषोका व्यवहार देखिये । उनके चरित्रोमे न कभी पहले असत्य था और न अब है । असाधु लोग ही असत्यका आचरण किया करते है । परन्तु उस असत्यसे कोई अजर-अमर नही हो सकता । मनुष्य अनाजकी तरह जराजीर्ण होकर मर जाता है और अनाजकी तरह ही कर्मवश पुनः जन्मता है । अतएव इस अनित्य संसारमे मिथ्या आचरणसे क्या प्रयोजन है ? आप अपने सत्यका पालन कर मुझे यमराजके पास जानेकी आज्ञा दीजिये ।'

पिताको बडा दुःख हुआ, परन्तु पुत्रकी सत्यपरायणता देखकर ऋषिने आज्ञा दे दी । नचिकेताने पिताके वचनोको निभानेके लिये यमसदनकी ओर प्रयाण किया ।

यमराजका अतिथि

निर्भीकचित्त नचिकेताने पिताकी आज्ञानुसार यमराजके घरपर आकर पता लगाया तो मालूम हुआ कि यमराज कही बाहर गये हुए हैं । नचिकेताको तीन रात्रितक अन्नजल ग्रहण किये बिना यमराजकी प्रतीक्षा करनी पड़ी । तीसरे दिन यमराजके लौटनेपर घरके लोगोने उनसे कहा—

वैश्वानरः प्रविशति अतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥

(कठ० १ । १ । ७)

'साक्षात् अग्नि ही ब्राह्मण-अतिथिके रूपमे घरमे प्रवेश करते है। साधु गृहस्थ उस अतिथिरूप अग्निके दाहकी शान्तिके लिये उसे जल (पादार्घ्य) दिया करते हैं। अतएव हे वैवस्वत! आप उस ब्राह्मण बालकके पैर धोनेके लिये जल ले जाइये। अतिथि तीन दिनोंसे आपकी बाट देखता हुआ अनशन लिये बैठा है, अतएव आप स्वयं उसकी सेवा करेंगे तभी वह शान्त होगा।'

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥

(कठ० १ । १ । ८)

'जिस अल्पबुद्धि पुरुपके घरपर अतिथि ब्राह्मण विना भोजन किये रहता है उस मन्दबुद्धिकी सारी आशा और प्रतीक्षाएँ—ज्ञात और अज्ञात वस्तुओंके प्राप्त होनेकी इच्छाएँ, उनके संयोगसे प्राप्त होनेवाला फल, उसकी सम्पत्ति, पुत्र, पशु, सत्यभाषण, यज्ञ और सारे पूर्त (कुएँ, तालाब, धर्मशाला आदि बनानेका पुण्य) नष्ट हो जाते हैं।' इस बातको सुनकर यमराज जलसे भरा हुआ स्वर्णकलश लेकर दौड़े और अतिथि नचिकेताको पादार्घ्य देकर आदरपूर्वक कहने लगे—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे
अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥
(कठ० १। १। ९)

'हे ब्राह्मण! तुम नमस्कार करने योग्य अतिथि होकर मेरे घर-पर तीन दिनसे बिना कुछ खाये पड़े हो, तुमको नमस्कार है और इससे मेरे दोषकी निवृत्ति होकर मेरा कल्याण हो। मुझसे बड़ा अपराध हुआ है। अतएव तुम प्रत्येक रात्रिके लिये एक-एक वर-के हिसाबसे कुल तीन वर मुझसे माँग लो!'

यमराजके द्वारपर तीन दिनतक अतिथि भूखा पड़ा रहे, कितना बड़ा अपराध! प्राचीन भारतमे अतिथिसेवा गृहस्थका सबसे आवश्यक कर्म माना जाता था। धर्मशास्त्रोमे लिखा है कि अतिथिको साक्षात् नारायण मानकर उसकी सेवा करनी चाहिये। जो गृहस्थ अतिथिसेवासे शून्य है, उसके समस्त शुभ कर्मोको वह भूखा अतिथि ले जाता है। भारतके वैदिक युगमे घरपर आये हुए अतिथि-नारायणकी बड़ी सेवा होती थी। यमराजका यह उदाहरण बड़े ही महत्त्वका है। जिस दिनसे भारतने इस परसेवा-व्रतके बन्धनको ढीला कर दिया, जबसे भारतके गृहस्थ केवल अपने स्त्री-पुत्रोके भोगविलासकी सामग्रियोका प्रबन्ध करनेमे ही कर्तव्यकी इतिश्री मानने लगे, जबसे अतिथि-नारायणोके लिये गृहस्थका द्वार बन्द होने लगा, तभीसे भारतकी दुर्गति आरम्भ हो गयी! अस्तु, यमराजकी बातको सुनकर 'सदा सन्तुष्ट' नचिकेताने यह सोचकर

कि पिताको सुख पहुँचाना ही पुत्रका सबसे प्रथम कर्तव्य है, यमराजसे यही पहला वर माँगा—

> शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्
> वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।
> त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीत
> एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥
> (कठ० १ । १ । १०)

'हे मृत्यो ! तीन वरोंमेंसे मैं प्रथम वर यही माँगता हूँ कि मेरे पिता मेरे प्रति शान्तसंकल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जायँ । और जब मैं आपके यहाँसे लौटकर घर जाऊँ तो वे मुझे पहचानकर मुझसे प्रेमसे बातचीत करें ।'

यमराजने 'तथास्तु' कहकर कहा कि 'मेरे द्वारा तुम्हारे वापिस लौट जानेपर तुम्हारे पिता पहलेकी भाँति तुम्हें पहचान लेंगे; मृत्युके मुखसे छूटे हुए तुमको देखकर वे सुखसे सोयेंगे और उनका क्रोध शान्त हो जायगा ।

पितृभक्त बालककी पहली कामना पूर्ण हुई । नचिकेताने इस प्रकार पिताका सुख सम्पादनकर फिर समस्त जीवोंके मङ्गलके लिये स्वर्गके साधन अग्नितत्त्वको जाननेके लिये यमराजसे कहा— 'हे मृत्यो ! स्वर्गमें कुछ भी भय नहीं है; वहाँ न आप (मृत्यु) हैं, न किसीको बुढापेका भय है; भूख-प्याससे पार होकर और शोकसे तरकर वहाँ पुरुष बडा आनन्द भोगता है । अतएव हे मृत्यो ! आप उस स्वर्गके साधनभूत अग्निको यथार्थरूपसे जानते हैं । मुझ श्रद्धावान्को आप वह बतलाइये । कारण, उसको जानकर लोग

स्वर्गमे रहकर अमृतत्वको (देवत्वको) प्राप्त होते है। यह मै दूसरा वर माँगता हूँ।'

यमराजने बड़ी तपस्या करके अग्निविद्याको जाना था। वास्तविक अधिकारी बिना इस विद्याको देनेसे दाता और गृहीता दोनोमेंसे किसीका कल्याण नहीं होता। परन्तु आज नचिकेताको उत्तम जिज्ञासु जानकर अग्नितत्त्वका महत्त्व बतलाते हुए यमराज बोले—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्॥

(कठ० १।१।१४)

'हे नचिकेता! मै उस स्वर्गके साधनभूत अग्निको भलीभाँति जानता हूँ और तुमको बतलाता हूँ, तुम इसको अच्छी तरह सुनो। यह अग्नि अनन्त (स्वर्ग) लोककी प्राप्तिका साधन है, विराट्रूपसे जगत्की प्रतिष्ठाका मूल कारण है। इसे तुम विद्वानोकी बुद्धिरूप गुहामे स्थित जानो।'

इसके अनन्तर यमराजने नचिकेताको समस्त लोकोके आदि-कारण उस अग्निकी और उसके लिये जैसी और जितनी ईंटे चाहिये, वे जिस प्रकार रक्खी जानी चाहिये, सो सब बतलाया अर्थात् यज्ञस्थानके निर्माणके लिये आवश्यक सामग्रियो और अग्निचयन करनेकी विधिको बतलाया। तीक्ष्णबुद्धि नचिकेताने यमराजकी कही हुई सारी बातोको दुहराकर अपनी प्रतिभाको सिद्ध कर दिया। यमराजको बालककी अप्रतिम योग्यता देखकर बडी प्रसन्नता हुई

और उन्होंने पहले तीन वरोंके अतिरिक्त एक चौथा यह वर और दिया कि—

तवैव नाम्ना भवितायमग्निः
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥
(कठ० १ । १ । १६)

'मैंने जिस अग्निकी बात तुमसे कही वह तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगी । और तुम इस विचित्र रत्नोंवाली शब्दवती मालाको भी ग्रहण करो ।' नचिकेताका तेजोदीप्त मुखमण्डल प्रसन्नतासे भर गया । यमराज फिर बोले 'जिसने यथार्थरूपसे मातापिता और आचार्यके उपदेशानुसार तीन बार नाचिकेत अग्निकी उपासना कर यज्ञ, वेदाध्ययन और दान किया है वह जन्म और मृत्युको तर जाता है और जब वह भाग्यवान् पुरुष उस अग्निको ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ, ज्ञानसम्पन्न पूजनीय देव जानता है तब वह शान्तिको प्राप्त होता है । जो नाचिकेत अग्निके स्वरूप, संख्या और आहुति देनेकी प्रणालीको जानकर उसकी उपासना करता है वह देहपातसे पहले ही मृत्युके पाशको तोडकर और शोकरहित होकर स्वर्गमें आनन्दको प्राप्त होता है ।'

नाचिकेत अग्निको स्वर्गका साधन बतलाकर और उसकी कुछ और प्रशंसा करके यमराजने नचिकेतासे कहा—'**तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व**'—'हे नचिकेता ! अब तीसरा वर माँगो ।'

अधिकारिपरीक्षा

पिताकी प्रसन्नताका वर इस लोकके लिये और स्वर्गके साधन अग्निका ज्ञान परलोकके लिये वरकर नचिकेता सोचता है कि क्या

स्वर्गसुखमे ही जीवका परम कल्याण है ? स्वर्गसे भी तो पुण्यात्माओका पुण्य क्षय होनेपर वापिस लौटना सुना जाता है, अतएव अब तीसरे वरसे उस मृत्युतत्त्व या आत्मतत्त्वको जानना चाहिये जिसके जाननेपर और कुछ जानना बाकी नही रह जाता। यों सोचकर 'आत्मा परलोकमे जाता है या नहीं, मरनेके बाद आत्माकी क्या गति होती है ?'—इस आत्मज्ञानके जटिल प्रश्नको समझनेके हेतुसे नचिकेताने यमराजसे कहा—'मृत मनुष्यके विषयमें एक संशय है। कोई कहते है—शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके अतिरिक्त देहान्तरसम्बन्धी कोई अन्य आत्मा है। कोई कहते है, ऐसा कोई स्वतन्त्र आत्मा नही है। प्रत्यक्ष या अनुमानसे इस विषयका कोई निर्णय नही हो सकता। आप मृत्युके अधिपति देवता है, अतएव मै यह आत्मतत्त्व आपसे जानना चाहता हूँ। यही तीसरा वर मै माँगता हूँ।' नचिकेताका महत्त्वपूर्ण प्रश्न सुनकर यमराजने सोचा—'ऋषिकुमार बालक होनेपर भी है बड़ा ही बुद्धिमान्, कैसे गोपनीय तत्त्वको जानना चाहता है। परन्तु आत्मतत्त्व उपयुक्त पात्रको ही बतलाना उचित है, अनधिकारीके समीप आत्मतत्त्व प्रकट करनेसे हितके स्थानमें प्रायः अनिष्ट ही हुआ करता है। इसलिये पहले पात्र-परीक्षाकी आवश्यकता है।' यो विचारकर यमराजने इस तत्त्वकी कठिनताका बखान करके नचिकेताको टालना चाहा। यमराजने कहा—'देवताओको भी पहले इस विषयमें सन्देह हुआ था। इस आत्मतत्त्वका समझना कोई आसान बात नहीं, यह

बड़ा ही सूक्ष्म विषय है; अतएव हे नचिकेता ! तुम दूसरा वर माँगो, इस वरके लिये मुझे मत रोको ।'

नचिकेता विषयकी कठिनताका नाम सुनकर घबराया नहीं, परन्तु और भी अधिक दृढतासे कहने लगा—'हे मृत्यो ! पूर्वकालमे देवताओंको भी जब इस विषयमे सन्देह हुआ था और जब आप भी कहते है कि यह विषय आसान नहीं है, तब मुझे इस विषयका समझानेवाला आपके समान दूसरा वक्ता ढूँढ़नेपर भी कोई नहीं मिल सकता । आप किसी दूसरे वरके लिये कहते है; परन्तु मै समझता हूँ कि इसकी तुलनाका और कोई वर नहीं है, क्योंकि यही कल्याणकी प्राप्तिका हेतु है । अतएव मुझे यही समझाइये !'

किसी विषयको जब नहीं बतलाना होता है तो सबसे पहले उसकी कठिनताका भय दिखलाया जाता है । यमराजने भी परीक्षाके लिये यही किया, परन्तु नचिकेता इस परीक्षामे उत्तीर्ण हो गया । अबकी बार यमराजने और भी कठिन परीक्षा लेनी चाही । साधककी परीक्षाके लिये दो ही प्रधान शस्त्र होते है—एक 'भय' और दूसरा 'लोभ' । नचिकेता भयसे नहीं डिगा, इसलिये अब यमराजने दूसरे शस्त्र लोभका प्रयोग उसपर किया । यमराजने कहा—

'बालक ! तुम क्या करोगे ऐसे वरको लेकर ? तुम ग्रहण करो इन सुखकी विशाल सामग्रियोंको'—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व
बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।

भूमेर्महदायतनं वृणीष्व

स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥

(कठ० १ । १ । २३)

'सौ-सौ वर्ष जीनेवाले पुत्र-पौत्र माँगो, गौ आदि बहुत-से पशु, हाथी, सुवर्ण, घोड़े और विशाल भूमण्डलका राज्य माँगो और इन सबको भोगनेके लिये जितने वर्ष जीनेकी इच्छा हो उतने ही वर्ष जीते रहो।' इतना ही नहीं,—

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं

वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।

महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि

कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥

(कठ० १ । १ । २४)

'इसीके समान और कोई वर चाहो तो उसे, और प्रचुर धनके साथ दीर्घजीवन माँग लो; अधिक क्या इस विशाल भूमिके तुम सम्राट् बन जाओ। मै तुम्हे अपनी सारी कामनाओका इच्छानुसार भोगनेवाला बनाये देता हूँ।' इसके सिवा—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके

सर्वान् कामाꣳश्छन्दतः प्रार्थयस्व।

इमा रामाः सरथाः सतूर्या

न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।

आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व

नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥

(कठ० १ । १ । २५)

'जो-जो भोग मृत्युलोकमें दुर्लभ है, उन सबको तुम अपनी इच्छानुसार माँग लो। ये रथोंसमेत और वाद्योंसमेत जो सुन्दर रमणियाँ हैं, ऐसी रमणियाँ मनुष्योंको नहीं मिल सकतीं। मेरे द्वारा दी हुई इन सारी रमणियोंसे तुम अपनी सेवा कराओ; परन्तु, हे नचिकेता! मुझे मरणसम्बन्धी (मृत्युके बाद आत्मा रहता है या नहीं) यह प्रश्न मत पूछो।'

संसारमे ऐसा कौन है जो बिना चाहे इतनी भोगसामग्रियां और उनके भोगनेके लिये दीर्घ जीवन व्यापी सामर्थ्य प्राप्त होनेपर भी उन्हे नहीं चाहेगा, सुनते ही लार टपकने लगती है; परन्तु विचार और वैराग्यकी उच्च भूमिकापर पहुँचा हुआ नचिकेता अटल और अचल है, यमराजके प्रलोभनोका उसके मनपर कोई असर नहीं हुआ। सत्य है—

रमाविलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बडभागी॥

'जो बडभागी रामके प्रेमीजन है वे रमाके विलासको (भोगोंको) वमनके समान त्याग देते है।' जिसने एक बार विश्वविमोहन मनोहर झाँकीकी अनोखी छटा देख ली, वह फिर विषयोंकी ओर भूलकर भी नहीं झाँकता। नचिकेताने कहा—'हे मृत्यो! आपने जिन भोग्य वस्तुओंका वर्णन किया वे कलतक रहेंगी या नहीं, इसमे भी सन्देह है। ये मनुष्यकी सारी इन्द्रियोंके तेजको हरण कर लेती है। आपने जो दीर्घजीवन देना चाहा है, वह भी अनन्त कालकी तुलनामे बहुत थोडा ही है। जब ब्रह्माका जीवन भी अल्प कालका है तब औरोंकी तो बात ही क्या है? अतएव मै यह सब नहीं चाहता। आपके रथ, घोड़े, हाथी और नाच-गान आपके ही पास रहे।'

'धनसे मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता; जहाँ केवल कामनाका ही विस्तार है, वहाँ तृप्ति कैसी? भोगविलासकी तृष्णामें अभाव और अपूर्णतामे अतृप्ति और आकांक्षाके सिवा और क्या रह सकता है? अतएव **'वरस्तु मे वरणीयः स एव'**—मुझे तो वही आत्मतत्त्वरूप वर चाहिये! भला, अजर और अमर देवताओके समीप आकर नीचेके मृत्युलोकका जरामरणशील कौन ऐसा मनुष्य होगा जो अस्थिर और परिणाममें दुःख देनेवाले विषयोंको चाहेगा? शरीरके सौन्दर्य और विषयभोगके प्रमादोको अनित्य और क्षणभङ्गुर समझकर भी कौन ऐसा समझदार होगा जो संसारके दीर्घजीवनसे आनन्द मानेगा? अतएव, हे मृत्यो! जिसके विषयमे लोग संशय करते है, जो महान् परलोकके विषयमे निर्णयात्मक आत्मतत्त्वविज्ञान है, मुझे वही दीजिये।

योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते।

(कठ० १।१।२९)

यह आत्मतत्त्वसम्बन्धी वर गूढ होनेपर भी नचिकेता इसके सिवा, दूसरा (अज्ञानी पुरुषोंद्वारा इच्छित) अनित्य वर नही चाहता !!

इस अग्निपरीक्षामें भी नचिकेता उत्तीर्ण हो गया। यमराजने अब नचिकेताको आत्मज्ञानका पूर्ण अधिकारी समझा। वास्तवमें जो इस मायामय जगत्के सारे सुखोके मनोहर चित्र, धनके प्रलोभन, रमणियोके रमणीय प्रणय-बन्धन और कमनीय कीर्तिकी कामना आदि सभी पदार्थोंको आत्मज्ञानकी तुलनामें काकविष्ठावत् या जहरके लड्डुओके समान अत्यन्त हेय और त्याज्य समझता है, जो इस लोक और परलोकके बड़े-से-बड़े भोगोको तुच्छ समझकर

सबको लात मार सकता है वही आत्मज्ञानका यथार्थ अधिकारी है। परन्तु जो कौडी-कौड़ीके लिये जन्म-जन्मान्तरतक वैरभावको आश्रय देनेके लिये तैयार रहते है और काम पड़नेपर आत्मज्ञानके सिवा दूसरी बात नहीं करते, वैसे लोग किस अधिकारके प्राणी हैं, इस बातको विज्ञ पाठक स्वयं सोच ले। विषयवैराग्य, साधुसंगति और भजन-साधनके प्रभावसे पहले आत्मज्ञानका अधिकार प्राप्त-कर तदनन्तर उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये, नहीं तो उभयभ्रष्ट होनेकी ही अधिक सम्भावना है !

श्रेय और प्रेय

यमराजने नचिकेताको परम वैराग्यवान्, निर्भीक और उत्तम अधिकारी समझकर परम प्रसन्न होकर कहा कि 'हे नचिकेता ! एक वस्तु श्रेय (कल्याण) है और दूसरी वस्तु प्रेय है (श्रेय मनुष्यके वास्तविक कल्याण मोक्षका नाम है और प्रेय स्त्री-पुत्र, धन-मानादि प्रिय लगनेवाले पदार्थोका नाम है)। इन दोनोका भिन्न-भिन्न प्रयोजन है और ये अपने-अपने प्रयोजनमे मनुष्यको बाँधते हैं। इन दोनोमेसे जो श्रेयको ग्रहण करता है उसका कल्याण (मोक्ष) होता है और जो प्रेयको चुनता है वह आपातरमणीय धन-मानादि-मे फँसकर पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जाता है।'

'श्रेय और प्रेय दोनोमेसे मनुष्य चाहे जिसको ग्रहण कर सकता है। बुद्धिमान् पुरुष श्रेय और प्रेय दोनोके गुण-दोषोको भलीभाँति समझकर उनका भेद करता है और नीरक्षीरविवेकी हंसकी तरह प्रेयको त्यागकर श्रेयको ग्रहण करता है। परन्तु मूर्ख

लोग **'प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते'**—योगक्षेमके लिये यानी प्राप्त स्त्री, पुत्र, धनादिकी रक्षा, और अप्राप्त भोग्य पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये प्रेयको ही ग्रहण करते है। हे नचिकेता !—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥

(कठ० १।२।३)

'तुमने मेरे द्वारा बार-बार प्रलोभन दिखलाये जानेपर भी जो प्रिय स्त्री-पुत्रादि और प्रियरूप अप्सरादि समस्त भोग्य विषयोको अनित्य समझकर त्याग दिया, इस द्रव्यमयी निकृष्ट गतिको तुम नही प्राप्त हुए, जिसमें कि साधारणतः बहुत-से मनुष्य डूबे रहते है !'

इस भाषणसे यमराजने नचिकेताके विवेक और वैराग्यकी विशेष प्रशंसा कर वित्तमयी संसारगतिकी निन्दा की और साथ ही विवेक-वैराग्यसम्पन्न मनुष्य ही ब्रह्मज्ञानका अधिकारी है, यह भी सूचित किया। इसके अनन्तर श्रेय और प्रेयके परस्पर विपरीत फल उत्पन्न करनेके कारणकी मीमांसा करते हुए यमराज कहने लगे—

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त॥

(कठ० १।२।४)

'विद्या और अविद्या ये दोनों प्रसिद्ध हैं, ये दोनों एक दूसरे-से अत्यन्त विपरीत और भिन्न-भिन्न तरफ ले जानेवाली हैं। हे नचिकेता ! मैं तुम्हे विद्याका अभिलाषी मानता हूँ, क्योंकि तुम्हे बहुत-से भोग भी नहीं लुभा सके।'

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

(काठ० १। २। ५)

'अविद्यामे पडे हुए भी जो लोग अपनेको बड़े बुद्धिमान् और पण्डित मानते हैं वे भोगकी इच्छा करनेवाले मूढजन अन्धेसे चलाये हुए अन्धोंकी तरह चारो ओर ठोकरे खाते भटकते फिरते है।'

वास्तवमे आजकल जगत्मे ऐसे अनेक मनुष्य है जो बिना समझे-बूझे ही अपनेको तत्त्वज्ञानी माने हुए हैं। यदि उनके अन्तः-करणका दृश्य देखा जाय तो उसमे नाना प्रकारकी कामनाओंका ताण्डवनृत्य होता हुआ दिखायी पडता है। परन्तु बातो और तर्कोंमे कहींपर ब्रह्मज्ञानमे जरा-सी भी त्रुटि नहीं दीखती। यमराजके कथनानुसार इस प्रकारके मिथ्याज्ञानियोंके लिये मोक्षका द्वार बन्द रहता है और उन्हे पुनः-पुनः आवागमनके चक्रमे ही ठोकरे खानी पडती है। 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्' ऐसा क्यों होता है ? यमराज कहते है—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।

'धनके मोहसे मोहित, प्रमादमें रत रहनेवाले मूर्खको परलोक या कल्याणका मार्ग दीखता ही नहीं।' वह तो केवल—

अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठ० १।२।६)

'यही मानता है कि स्त्री-पुत्रादि भोगोंसे भरा हुआ एकमात्र यही लोक है, इसके सिवा परलोक कोई नहीं है। इसी मान्यताके कारण उसे बारंबार मेरे (मृत्युके) अधीन होना पड़ता है!'

यमराज फिर बोले कि 'हे नचिकेता! आत्मज्ञान कोई साधारण-सी बात नहीं है। अनेक लोग तो ऐसे हैं जिनको आत्माके सम्बन्धकी बातें सुननेको ही नहीं मिलतीं। बहुत-से लोग सुनकर भी इसे जान नहीं सकते, आत्माका वक्ता भी आश्चर्यरूप कहीं ही कोई मिलता है और इस आत्माको प्राप्त करनेवाला भी कहीं कोई एक निपुण पुरुष ही होता है, इसी प्रकार किसी निपुण आचार्यसे शिक्षाप्राप्त कोई बिरला ही आश्चर्यरूप पुरुष आत्माको जाननेवाला होता है।'*

'किसी साधारण मनुष्यके विवेचनसे आत्माका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, आत्मज्ञान तभी होता है जब उसका उपदेश किसी अनन्य (अभेददर्शी) समर्थ पुरुषके द्वारा किया जाता है, क्योंकि यह (आत्मा) सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म होनेके कारण सर्वथा अतर्क्य है। यह ज्ञान तर्कसे प्राप्त नहीं होता, यह तो किसी अलौकिक ब्रह्मज्ञानीके द्वारा बतलाया जानेपर ही प्राप्त होता है। हे नचिकेता!

---

* गीता अ० २। २९ मे इसी आशयका श्लोक है।

तुमने ऐसा पुरुष पाया है, वास्तवमे तुम सत्य-धारणासे सम्पन्न हो। तुम-जैसा जिज्ञासु मुझे मिलता रहे।'

यों कहकर यमराजने सोचा कि यदि नचिकेताके मनमें कर्मकाण्डके फलोंकी अनित्यताके सम्बन्धमे कुछ भी सन्देह रह गया तो उसका परिणाम शुभ नहीं होगा। अतएव यमराजने कहा—

'हे नचिकेता! मै जानता हूँ कि धनराशि अनित्य है और अनित्य वस्तुओंसे नित्यवस्तुकी प्राप्ति नही होती। यों जानते हुए भी मैंने अनित्य पदार्थोंसे स्वर्गसुखके साधनभूत नाचिकेत अग्निका चयन किया है। इसीसे मैंने यह आपेक्षिक अर्थात् अन्यान्य पदोंकी अपेक्षा नित्य (अधिककालस्थायी) यमराजका पद पाया है।

परन्तु, हे वत्स! तुम तो सब प्रकारसे श्रेष्ट हो, तुमने उस परम पदार्थके सम्मुख जगत्‌की चरम सीमाके भोग, प्रतिष्ठा, यज्ञ-फलरूपी हिरण्यगर्भका पद, अभयकी मर्यादा (चिरकालस्थायी जीवन), स्तुत्य और महान् ऐश्वर्यको हेय समझकर धैर्यके द्वारा त्याग दिया है। यथार्थमे तुम बडे गुणसम्पन्न हो।

यद्यपि यह आत्मा—यह नित्य प्रकाशरूप आत्मा जीवरूपसे हृदयमे विराजमान है तथापि सहजमे इसके दर्शन नहीं होते। क्योंकि यह अत्यन्त ही सूक्ष्म है, यह अत्यन्त गूढ है, समस्त जीवोंके अन्तरमे प्रविष्ट है, बुद्धिरूपी गुफामे छिपा हुआ है, राग-द्वेषादि अनर्थमय देहमे स्थित है और सबसे पुराना है। जब कोई

धीर पुरुष इस देवताको अध्यात्मयोगके द्वारा अर्थात् चित्तको विषयोंसे निवृत्तकर उसे आत्मामे समाहित करता है तब इसे जानकर वह हर्ष और शोकसे तर जाता है। कारण, आत्मामे हर्ष और शोकको कहीं भी स्थान नहीं, ये तो वास्तवमे केवल बुद्धिके विकारमात्र हैं। जिसने ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके द्वारा आत्म-तत्त्वको सुनकर उसे सम्यक्‌रूपसे धारण कर लिया है और धर्मयुक्त इस सूक्ष्म आत्माको जड शरीरादिसे पृथक् समझकर प्राप्त कर लिया है वही आनन्दधामको पाकर अतुल आनन्दमें रम जाता है। मै समझता हूँ कि नचिकेताके लिये भी वह मोक्षका द्वार खुला हुआ है।'

'विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये'

यमराजके वचनोंसे अपनेको आत्मज्ञानका अधिकारी समझ-कर नचिकेताने कहा—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।

(कठ० १।२।१४)

'हे भगवन्! आप यदि मुझपर प्रसन्न है तो धर्म और अधर्मसे अतीत, तथा इस कार्य और कारणरूप प्रपञ्चसे पृथक्, एवं भूत तथा भविष्यत्‌से भिन्न जिस सर्व प्रकारके व्यावहारिक विषयोंसे अतीत परब्रह्मको आप देखते है उसे मुझे बतलाइये।'

साधन और स्वरूप

नचिकेताके प्रश्नको सुनकर यमराजने आत्माका स्वरूप

समझते है, क्योंकि यह आत्मा न तो किसीको मारता है और न कोई मरता ही है।' यह आत्मा—

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

(कठ० १। २। २०)

'जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और जो महान्‌से भी महत्तर है, जो जीवकी हृदय-गुफामे छिपा हुआ है'—इसे वही देख पाता है जो कामनाओंसे रहित है, जो कर्मोंकी सिद्धि और असिद्धिमे समचित्त है, जो सुत-वित-दारके उत्पत्ति या विनाशमे हर्ष और शोकको नही प्राप्त होता, जो प्रत्येक अवस्थामे परमात्माकी एक अनन्त सत्ताको उपलब्ध करता हुआ शान्त और स्थिर रहता है। परन्तु जो इस प्रकारका नहीं है उसे आत्माके दर्शन नही होते। क्योंकि यह आत्मा निश्चल होनेपर भी दूरतक पहुँच जाता है, सोया हुआ ही सर्वत्र चला जाता है, विद्या और धनादि मदयुक्त होते हुए भी मदरहित है। इसे मेरे अतिरिक्त अन्य कौन जान सकता है?'

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

(कठ० १। २। २२)

'यह समस्त अनित्य शरीरोमे रहते हुए भी शरीररहित है, समस्त अस्थिर पदार्थोंमे व्याप्त होते हुए भी सदा स्थिर है; इस नित्य और महान् विभु आत्माको जो धीर पुरुष जान लेता है वही शोकसे तर जाता है।'

यह एक ही आत्मा सब ओरसे और सबमे व्यापक होनेपर भी—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।*

'न तो यह वेदके प्रवचनसे प्राप्त होता है, न विशाल बुद्धिसे मिलता है और न केवल जन्मभर शास्त्रोके श्रवण करनेसे ही मिलता है ।' यह मिलता है उसीको जो इसको पानेके लिये परम व्याकुल हो जाता है और मिलता है उसको—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥

(कठ० १ । २ । २३)

—जिसको यह स्वप्रकाश आत्मा स्वयं स्वीकार कर लेता है और जिसके निकट अपना यथार्थ स्वरूप प्रकट कर देता है।

सो जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥

जबतक परमात्माको पानेके लिये हृदयमे व्याकुलता और अधीरता नही उत्पन्न होती, जबतक साधक निष्काम साधनसे सम्पन्न नही हो जाता, जबतक परमात्माके नित्य स्वरूपके साथ उसके मनका सर्वथा संयोग नहीं हो जाता तबतक सारी बातें और सारी क्रियाएँ शुष्क और व्यर्थ है । ऐसे पुरुपका ज्ञान केवल मौखिक और लोकरञ्जकमात्र होता है । उससे कोई लाभ नही होता । 'जो पापोमे रत है; जो दम, शम तथा चित्तवृत्तियोके निरोधरूप समाधिसे रहित है; जिसका मन अशान्त है उसको केवल पाण्डित्यकी प्रचुरता और तर्कोंकी तीक्ष्णतासे ही आत्म-

* गीताके अ० ११ के ५३ वें श्लोकमे प्रायः ऐसे ही वचन है।

साक्षात्कार नहीं हो सकता ! जो शम-दमादि गुणोसे युक्त है, जो शुद्ध, संयत और समाहितचित्त है, जो इन्द्रियलालसाओसे विरत है और जिसने श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनद्वारा अभेद-रूप प्रज्ञान प्राप्त कर लिया है वही उस प्रज्ञानके द्वारा इस आत्माको प्राप्त होता है—**'प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्'** ।

जो साधनसम्पन्न नहीं है, उनको आत्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती । इसी बातको बतलानेके लिये यमराजने फिर कहा कि 'हे नचिकेता ! देखो, दूसरोकी तो बात ही क्या है, जो ब्राह्मण और क्षत्रिय समस्त धर्मोंके रक्षक और प्राणस्वरूप है, जो इतने श्रेष्ठ हैं वे भी उस परमात्माके 'अन्न' बन जाते हैं । सबका संहार करने-वाला मृत्यु भी जिस परमात्माके भोजनका उपसेचन अर्थात् साग-पात बन जाता है ऐसे उस महामहिमान्वित परमात्माको संसारके भोगोंमे आसक्त और साधनरहित मनुष्य कैसे जान सकता है कि वह 'इस प्रकार' का है !'

आत्मा और परमात्माका निर्णय करके यमराजने शिष्यको कर्मसे अग्निविद्या और ज्ञानसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति बतलानेके लिये कहा, 'जो यजमानको दुःखसागरसे पार करनेके लिये पुलके समान है वही नाचिकेत अग्नि है—और जो संसारसागरसे पार होना चाहनेवालोके लिये परम आश्रयस्वरूप है वही अक्षर परब्रह्म है । कर्मके द्वारा अपरब्रह्मको और ज्ञानके द्वारा परब्रह्मको जानना चाहिये । जीवकी मुक्तिके लिये जितने पथ है उन सबमे ज्ञान ही

सबसे प्रधान है। तदनन्तर यमराजने आत्माका रथीरूपसे वर्णन करते हुए कहा—

आत्मान्ँ रथिनं विद्धि शरीरँ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँ स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

(कठ० १।३।३-४)

'शरीर रथ है, आत्मा रथका स्वामी रथी है, बुद्धि सारथी है, और मन लगाम है, ऐसा समझो। श्रोत्रादि इन्द्रियाँ घोड़े है, शब्द-स्पर्शादि विषय ही इनके दौड़नेका मैदान है और शरीर, इन्द्रिय तथा मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं।'

घोड़ोसे ही रथ चलता है, परन्तु उस रथको चाहे जिस तरफ ले जाना लगाम हाथमें पकड़े हुए बुद्धिमान् सारथीका काम है। इन्द्रियरूपी बलवान् और प्रमथनकारी घोड़े विषयरूपी मैदानमें मनमाना दौड़ना चाहते है, परन्तु यदि बुद्धिरूपी सारथी मनरूपी लगामको जोरसे खींचकर उन्हें अपने वशमें रखता है तो घोड़ो-की ताकत नहीं कि वे मनरूपी लगामके सहारे बिना ही चाहे जिस तरफ दौड़ने लगें। यह सबको विदित है इन्द्रियाँ वास्तवमें विषयका ग्रहण तभी कर सकती है जब मन उनके साथ हो। घोड़े उसी ओर दौड़ते है जिस ओर लगामका सहारा होता है; परन्तु इस लगामको ठीक रखना सारथीके बल, बुद्धि और मार्गके ज्ञानपर निर्भर करता है। यदि बुद्धिरूप सारथी विवेकपूर्ण स्वामीका आज्ञाकारी, लक्ष्यपर सदा स्थिर, बलवान् और

इन्द्रियरूपी अश्वोंकी सञ्चालनक्रियामे निपुण नहीं होता तो इन्द्रियरूपी दुष्ट घोडे उसके वशमे न रहकर लगामको अपने वशमें कर लेते हैं और परिणाममे वे रथको रथी और सारथी समेत चाहे जैसे बुरे स्थानमें ले जाकर पटक देते है। परन्तु—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

(कठ० १।३।६)

'जिसकी बुद्धिमे विवेक होता है, जिसका मन एकाग्र और समाहित होता है उसकी इन्द्रियाँ अच्छे घोड़ोंकी तरह बुद्धिरूप सारथीके वश रहती है।'

जिसका मन निग्रहरहित है, जो अविवेकी है और जो सदा अपवित्र है, ऐसे रथीको कभी अपने लक्ष्य—परमपद ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती। उसे बारंबार कष्टमय जन्ममरणरूप संसारमें ही भटकना पड़ता है। परन्तु—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥

(कठ० १।३।८)

'जो विवेकी है, जिसका मन निगृहीत है, जो सदा पवित्र रहता है वह ऐसे परमपदको पाता है जहाँसे लौटकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। जिसका बुद्धिरूप सारथी विवेकी है, जिसकी मनरूप लगाम स्थिर है, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े लगामके साथ-ही-साथ विवेकमयी बुद्धिके वशमें हैं वह इसी रथकी

सहायतासे संसारसागरके उस पार अपने लक्ष्यस्थानपर अनायास ही जा पहुँचता है और वही—

तद्विष्णोः परमं पदम् ।

—'विष्णुका परमपद है ।'

यमराजने फिर कहा कि 'इन्द्रियोंसे उनके विषय श्रेष्ठ है, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे महत् श्रेष्ठ है, महत्‌से अव्यक्त श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है । बस, इस पुरुषसे परे और कोई नही है—

सा काष्ठा सा परा गतिः ।

यही चरम सीमा है, यही परमगति है परन्तु यह केवल—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।

सूक्ष्मदर्शियोके द्वारा सूक्ष्म वस्तुके निरूपणमें निपुण एकाग्रतायुक्त बुद्धिसे ही देखा जा सकता है । अतएव **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'** उठो ! जागो ! और महापुरुषोके पास जाकर इसे जानो । बुद्धिमान् लोग इस मार्गको तलवारकी धारपर चलनेके समान बतलाते हैं—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, इसीसे वे केवल बाहरकी वस्तुओंको देखती हैं अन्तरात्माको नहीं देखती । कोई विवेकसम्पन्न पुरुष ही अमृतत्वकी शुभ इच्छासे इन इन्द्रियोको अन्तर्मुखी करके अन्तरात्माको देख पाता है । अज्ञानी लोग बाह्य विषयोंकी ओर ही दौड़ते हैं और इसीसे वे सर्वत्र व्याप्त मृत्युके फन्देमे फँस जाते है परन्तु ज्ञानी पुरुष उस अमृतत्वको जानकर इन अनित्य पदार्थोंसे नित्य वस्तुकी प्रार्थना नही करते ।

जो यहाँ (कार्यमें) है वही वहाँ (कारणमें) है। परन्तु जो उपाधिके सम्बन्धसे और भेदज्ञानके कारण अविद्याके प्रभावसे उस अभिन्नस्वरूप ब्रह्मको नाना रूपोंमें देखता है—

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति ।

—वह बार-बार मृत्युको (जन्म-मरणको) ही प्राप्त होता है। इस ज्ञानकी प्राप्ति केवल विचारसे ही हो सकती है। यहाँ किञ्चित् भी भेद नहीं है। जिसको यहाँ भेद दीखता है उसीको बार-बार मृत्युकी शरण लेनी पड़ती है। जैसे शुद्ध जलमें शुद्ध जल मिलानेपर दोनों मिलकर एकरस तन्मय हो जाते हैं इसी प्रकार आत्मदर्शी पुरुषका आत्मा परमात्मासे मिलकर ब्रह्मरूप बन जाता है।

यमराजने आगे चलकर फिर कहा 'हे नचिकेता! मैं प्रसन्न होकर तुम्हें यह अत्यन्त गोपनीय सनातन ब्रह्मतत्त्व बतला रहा हूँ। मृत्युके बाद जीवका क्या होता है सो तुम सुनो! जिसके जैसे कर्म और जैसी वासना होती है और जिसका जैसा ज्ञान होता है उसीके अनुसार कोई तो मृत्युके बाद माताके गर्भमें जाता है और कोई मृत्युके पश्चात् वृक्ष, पाषाणादि स्थावर योनिको प्राप्त होता है। जब समस्त प्राणी निद्राग्रस्त रहते हैं तब जो एक निर्गुण ज्योतिर्मय ब्रह्म सुप्रकाशितरूपसे जाग्रत् रहकर समस्त विषयोंको प्रकाशित करता है, वही शुद्ध है, वही ब्रह्म है, उसीका नाम अमृत है, उसके सिवा और कोई छिपा हुआ ब्रह्म नहीं है। पृथ्वी आदि सभी लोक उसीमें अवस्थित हैं, उसका अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

(कठ० २।२।९-१०)

अग्नि एक ही है परन्तु जैसे सम्पूर्ण भुवनमें प्रवेश करनेपर वही भिन्न-भिन्न वस्तुओंमे भिन्न-भिन्न रूपमे दीखता है। इसी प्रकार समस्त प्राणियोमें रहनेवाला आत्मा एक ही है परन्तु सबमे भिन्न-भिन्न रूपमे दीखता है, आकाशकी तरह निर्विकार होनेके कारण बाहर भी वही रहता है। जैसे एक ही वायु लोकमे प्रवेशकर भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है इसी प्रकार सब प्राणियोंमें व्यापक एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है तथा बाहर भी रहता है। अग्नि और वायुके दृष्टान्तमे केवल यही अन्तर है कि अग्नि तो प्रकाशस्वरूप होकर लोकमे प्रवेश करता है, और वायु प्राण-स्वरूप होकर प्रत्येक देहमे प्रवेश करता है।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

(कठ० २।२।११)

जैसे एक ही सूर्य सब लोकोंकी आँख है, अच्छी-बुरी सभी वस्तुओका प्रकाश सूर्यसे होता है तथापि वह बाह्य दोषोसे लिप्त नहीं होता इसी प्रकार वह आत्मा सर्वव्यापी होनेपर भी जगत्‌के दुःखोसे लिप्त नहीं होता, उनसे बाहर रहता है।

समस्त भूतप्राणियोके अन्दर शक्तिरूपसे रहनेवाला वह

आत्मा एक ही है वही सबका नियन्ता है, वह एक ही अनेक रूपमें दिखायी देता है। जो धीर पुरुष इस प्रकार आत्माको जानते हैं उनको ही—

तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।

—नित्य सुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।

नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।

(कठ० २।२।१३)

जो नित्योंका भी नित्य है, जो चेतनोंका भी चेतन है, जो एक ही अनेकोंकी कामनाएँ पूर्ण करता है उस शरीरस्थ आत्माका जिनको अनुभव होता है वे ही नित्यशान्तिको प्राप्त होते हैं, दूसरे नहीं। जिसको सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता, जो चन्द्रमा और तारागणोंसे प्रकाशित नहीं होता, बिजली जिसे प्रकाशित नहीं कर सकती उसको बेचारा अग्नि तो क्या प्रकाशित करे? जिसके प्रकाशसे ही सबका प्रकाश होता है, उसी परिपूर्ण प्रकाशकी दिव्य ज्योतिसे समस्त विश्व प्रकाशित हो रहा है।

इस दृश्यमान संसारके समस्त पदार्थ उस परब्रह्मसे निकलकर उसीकी सत्तासे सदा काँपते हुए अपने-अपने काममें लगे रहते हैं क्योंकि वह उठे हुए वज्रके सदृश महाभयङ्कर है।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(कठ० २।३।३)

अग्नि उसीके भयसे तपता है, सूर्य उसीके भयसे तपता है तथा इन्द्र, वायु और पञ्चम मृत्यु उसीके भयसे दौड़ते है ।

जो पुरुष इस शरीरके नाश होनेसे पूर्व ही उस आत्माको जान लेता है वही मुक्त होता है, नहीं तो—

सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ।

—इन जन्ममरणशील लोकोमें उसे फिर जन्म ग्रहण करना पड़ता है ।

जब मनुष्यकी सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, जब मन सब प्रकारकी मलिनताको त्यागकर अत्यन्त विशुद्ध बन जाता है और जब अन्तःकरणकी समस्त वासनाएँ सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जाती है तब यह—

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।

(कठ० २ । ३ । १४)

—मरणशील मनुष्य अमृत बनकर यहीपर ब्रह्मको प्राप्तकर ब्रह्मानन्दमें मग्न हो जाता है । इस अवसरपर उसके हृदयकी ('मै' और 'मेरे' की) समस्त ग्रन्थियाँ टूट जाती है और वह अमृत बन जाता है, बस,—

एतावदनुशासनम्

यही शास्त्रका उपदेश है, इससे परे और कुछ भी नही है ।

(कठोपनिषद्‌के आधारपर)
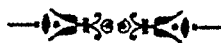
आपद्धर्म

एक समय कुरुदेशमे ओलोकी बड़ी वर्षा होनेसे और उगते हुए अन्नका नाश हो जानेसे भयानक अकाल पड गया। अकालसे पीड़ित नर-नारी अन्नके अभावसे देश छोड़कर भागने लगे। इसीलिये चक्रके पुत्र उपस्तिने भी अपनी अप्राप्तयौवना पत्नी आटिकीको साथ लेकर देश छोड़ दिया और भटकते-भटकते दोनो एक महावतोंके ग्राममे पहुँचे। भूखके मारे उस समय उपस्ति मरणासन्न दशाको प्राप्त हो रहा था। उसने एक महावतको उबले हुए उड़दके दाने खाते देखा और उसके पास जाकर कुछ उड़द देनेको कहा। महावतने कहा—'मै इस वर्तनमें रखे हुए जो उडद खा रहा हूँ इन जूँठे उडदोंके सिवा मेरे पास और उडद नहीं है तब मै तुम्हे कहाँसे दूँ?' महावतकी बात सुनकर उपस्तिने कहा—'मुझे इनमेसे ही कुछ दे दो' तब महावतने उनमेसे थोड़े-से उड़द उपस्तिको दे दिये और जल सामने रखकर कहा कि 'लो, इनको खाकर जल पी लो।' इसपर उपस्तिने कहा—'भाई! मै यह जल पी लूँगा तो मुझे दूसरेकी जूँठन खानेका दोष लगेगा।'

महावतने अचरजसे पूछा, 'तो क्या तुमने जो उडद मुझसे लिये है, ये जूँठे नहीं है, फिर जूँठे जलहीमे कौन-सा दोष है?'

उपस्तिने उत्तर दिया—'भाई! यदि मै यह उडद नही खाता तो मेरे प्राण नहीं रहते (प्राण-संकटमे आपद्धर्म समझकर ही मै उड़द खा रहा हूँ) अब जल तो मेरी इच्छानुसार मुझे दूसरी जगह भी मिल जायगा। यदि उडदकी तरह मै तुम्हारा जूँठा जल

यज्ञ-मण्डपमें राजा और उषस्ति

भी पी लूँ तब तो वह स्वेच्छाचार ही होगा। आपद्धर्म नहीं रहेगा। इसलिये मै तुम्हारा जल नही पीऊँगा।' इतना कहकर उपस्तिने कुछ उड़द खा लिये और शेष अपनी स्त्रीको दे दिये। ब्राह्मणीको पहले ही कुछ खानेको मिल गया था, इसलिये पतिके दिये हुए जूँठे उड़द उसने खाये नहीं, अपने पास रख लिये।

दूसरे दिन प्रातःकाल उपस्तिने प्रातःकृत्य करनेके बाद अपनी स्त्रीसे कहा—'क्या करूँ, मुझे जरा-सा भी अन्न कहीसे खानेको मिल जायतो मै अपना निर्वाह होने लायक कुछ धन प्राप्त कर सकता हूँ, यहाँसे समीप ही एक राजा यज्ञ कर रहा है, वह ऋत्विक्के काममें मेरा भी वरण कर लेगा।'

यह सुनकर स्त्रीने कहा—'मेरे पास कलके बचे हुए कुछ उड़द हैं, लीजिये, इन्हे खाकर यज्ञमें शीघ्र चले जाइये।' भूखसे अशक्त हुए उपस्तिने उड़द खा लिये और कुछ स्वस्थ होकर वह राजाके यज्ञमे चले गये। वहाँ जाकर वे आस्तावमें (स्तुतिके स्थानमे) स्तुति करनेवाले उद्गाताओंके पास जाकर बैठ गये। और स्तुति करनेवालोंकी भूल देखकर उनसे बोले—'हे प्रस्तोता! आप जिन देवताकी स्तुति करते है वे देव कौन है? आप यदि अधिष्ठाताको जाने बिना उनकी स्तुति करेंगे तो याद रखिये, आपका मस्तक नीचे गिर पड़ेगा' इसी प्रकार उद्गातासे कहा कि 'हे उद्गीथकी स्तुति करनेवाले! यदि आप उद्गीथभागके देवताको जाने बिना उनका उद्गान करेंगे तो आपका मस्तक नीचे गिर पड़ेगा।' तदनन्तर उन्होंने प्रतिहारका गान करनेवालेकी ओर भी मुड़कर कहा कि 'हे प्रतिहारका गान करनेवाले प्रतिहर्ता! यदि आप

देवताको विना जाने उसको प्रतिहार करेंगे तो आपका मस्तक नीचे गिर जायगा।' यह सुनकर स्तोता; उद्गाता और प्रतिहर्ता आदि सब ऋत्विजगण मस्तक गिरनेके डरसे अपने-अपने कर्मको छोडकर चुप होकर बैठ गये।

राजाने अपने ऋत्विजोकी यह दशा देखकर कहा कि 'हे भगवन्! आप कौन है, मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।' उपस्तिने कहा—'राजन्! मैं चक्रका पुत्र उपस्ति हूँ।' राजाने कहा—'ओहो! भगवन्! उपस्ति आप ही हैं? मैंने आपके बहुत-से गुण सुने हैं। इसीलिये मैंने ऋत्विजके कामके लिये आपकी बहुत खोज की थी परन्तु आपके न मिलनेपर मुझे दूसरे ऋत्विज वरण करने पड़े। अब मेरे सौभाग्यसे आप पधारे है तो हे भगवन्! ऋत्विज-सम्बन्धी समस्त कर्म आप ही करनेकी कृपा कीजिये।'

उपस्तिने कहा—'बहुत अच्छा! परन्तु इन ऋत्विजोको हटाना नहीं, मेरी आज्ञानुसार ये ऋत्विजगण अपना-अपना कर्म करे। और दक्षिणा भी जो इन्हे दी जाय, उतनी ही मुझे देना।' (न तो मै इन लोगोंको निकालना चाहता हूँ, और न दक्षिणामें अधिक धन लेकर इनका अपमान करना चाहता हूँ। मेरी देख-रेखमे ये सब कर्म करते रहेगे) तदनन्तर प्रस्तोता, उद्गाता आदि समस्त ऋत्विजोने उपस्तिके पास जाकर विनयपूर्वक उनसे पूछ-पूछकर सब बाते जान ली और उपस्तिने उन लोगोको सब समझा-कर उनके द्वारा राजाका यज्ञ भलीभाँति पूर्ण करवाया।

(छान्दोग्य-उपनिषद्के आधारपर)

गाड़ीवाला रैक्व

(४)

गाड़ीवालेका ज्ञान

प्रसिद्ध जनश्रुत राजाके पुत्रका पौत्र जानश्रुति नामक एक राजा था, वह बहुत ही श्रद्धाके साथ आदरपूर्वक योग्य पात्रोंको बहुत दान दिया करता था। अतिथियोंके लिये उसके घरमे प्रतिदिन वहुत-सा भोजन बनवाया जाता था। वह महान् दक्षिणा देनेवाला था। वह चाहता था कि प्रत्येक शहर और गाँवमे रहनेवाले साधु, ब्राह्मण आदि सब मेरा ही अन्न खायँ, इसलिये उसने जहाँ-तहाँ सर्वत्र ऐसे धर्मस्थान, अन्नसत्र या छात्रावास खोल रक्खे थे जहाँ अतिथियों आदिके ठहरने और भोजन करनेका सुप्रबन्ध था।

राजाके अन्नदानसे सन्तुष्ट हुए ऋषि और देवताओंने राजाको सचेत करके उसे ब्रह्मानन्दका सुख प्राप्त करानेके लिये हंसोंका रूप धारण किया और राजाको दिखायी दे सकें ऐसे समय वे उडते हुए राजाके महलकी छतके ऊपर जा पहुँचे। वहाँ पिछले हंसने अगले हंससे कहा—'भाई भल्लाक्ष! इस जनश्रुतके पुत्रके पौत्र जानश्रुतिका तेज दिनके समान सब जगह फैल रहा है। इसका स्पर्श न कर लेना, कहीं स्पर्श कर लेगा तो यह तेज तुझे भस्म कर डालेगा।' यह सुनकर अगले हंसने कहा—

'भाई ! तुम बैलगाडीवाले रैक्वको नहीं जानते, इसीसे तुम उस रैक्वसे इसका तेज बहुत ही कम होनेपर भी उसकी-सी प्रशंसा कर रहे हो ।' पिछले हंसने कहा—'वह गाडीवाला रैक्व कौन है और कैसा है, सो तो बता ।' अगले हंसने कहा—'भाई ! उस रैक्वकी महिमाका क्या बखान किया जाय । जैसे जुआ खेलनेके पासेके नीचेके तीनो भाग उसके अन्तर्गत होते है, यानी जब जुआरीका पासा पडता है तब वह तीनोको जीत लेता है । उसी प्रकार प्रजा जो कुछ भी शुभ कार्य करती है, वह सारे शुभ कर्म और उनका फल रैक्वके शुभ कर्मके अन्तर्गत है । अर्थात् प्रजाकी समस्त शुभ क्रियाओंका फल उसे मिलता है । वह रैक्व जिस जाननेयोग्य वस्तुको जानता है, उस वस्तुको जो जान जाता है उसे भी रैक्वके समान ही सब प्राणियोके शुभ कर्मोंका फल प्राप्त होता है । मै उसी विद्वान् रैक्वके लिये ही ऐसे कह रहा हूँ ।'

महलपर सोये हुए राजा जानश्रुतिने हंसोकी ये बातें सुनीं और रातभर वह इन्हीं बातोको स्मरण करता हुआ जागता रहा । प्रातःकाल बन्दीजनोकी स्तुति सुनकर राजाने बिछौनेसे उठकर बन्दीजनोसे कहा कि 'हे वत्स ! तुम गाडीवाले रैक्वके पास जाकर उससे कहो कि मै आपसे मिलना चाहता हूँ ।' भाटने कहा—'हे राजन् ! वह गाडीवाला रैक्व कौन है ? और कैसा है ?' राजाने जो कुछ हंसोने कहा था, सो उसे कह सुनाया । राजाकी आज्ञानुसार भाटोने बहुत-से नगरो और गॉवोमे रैक्वकी खोज की परन्तु कहीं पता नहीं लगा । तब लौटकर उन्होंने राजासे कहा

कि 'हमे तो रैक्वका कहीं पता नहीं लगा ।' राजाने विचार किया कि इन भाटोंने रैक्वको नगरों और ग्रामोंमे ही खोजा है। भला, ब्रह्मज्ञानी महापुरुष विषयी पुरुषोंके बीचमे कैसे रहेंगे ? और उनसे कहा कि 'अरे ! जाओ, ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंके रहनेके स्थानोंमे (अरण्य, नदीतट आदि एकान्त स्थानोंमे) उन्हे खोजो ।'

राजाकी आज्ञानुसार भाट फिर गये, और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते किसी एक एकान्त निर्जन प्रदेशमें गाडीके नीचे बैठे हुए शरीर खुजलाते हुए एक पुरुषको उन्होने देखा । बन्दीजन उनके पास जाकर विनयके साथ पूछने लगे—'हे प्रभो ! क्या गाड़ीवाले रैक्व आप ही है ?' मुनिने कहा—'हाँ, मैं ही हूँ ।'

रैक्वका पता लगनेसे भाटोको बड़ा हर्ष हुआ और वे तुरन्त राजाके पास जाकर कहने लगे कि 'हमने अमुक स्थानमे रैक्वका पता लगा लिया ।'

तदनन्तर राजा छः सौ गायें, सोनेका कण्ठहार और खच्चरियों-से जुता हुआ एक रथ आदि लेकर रैक्वके पास गया और वहाँ जाकर हाथ जोड़कर रैक्वसे बोला—'भगवन् ! यह छः सौ गायें, एक सोनेका हार और यह खच्चरियोसे जुता हुआ रथ, ये सब मै आपके लिये लाया हूँ । कृपा करके आप इनको स्वीकार कीजिये और हे भगवन् ! आप जिस देवताकी उपासना करते है, उस देवताका मुझको उपदेश कीजिये ।'

राजाकी बात सुनकर रैक्वने कहा, 'अरे शूद्र* ! यह गौएँ,

---

* शोकसे विकल होनेके कारण राजाको मुनिने शूद्र कहा ।

हार और रथ तू अपने ही पास रख ।' यह सुनकर राजा घर लौट आया और विचारने लगा कि 'मुझको मुनिने शूद्र क्यों कहा । या तो मैं हंसोकी वाणी सुनकर शोकातुर था इसलिये शूद्र कहा होगा । अथवा थोडा धन देखकर उत्तम विद्या लेनेका अनुचित प्रयत्न समझकर भी मुनि मुझको शूद्र कह सकते हैं । परन्तु बिना ज्ञानके तो मेरा शोक दूर होगा नहीं, अतएव मुनिको प्रसन्न करनेके लिये मुझे फिर वहाँ जाना चाहिये ।'

यह विचारकर राजा अबकी बार एक हजार गायें, एक सोनेका कण्ठहार, खच्चरियोंसे जुता हुआ एक रथ और अपनी पुत्रीको लेकर फिर मुनिके पास गया और हाथ जोडकर कहने लगा—'हे भगवन् ! यह सब मैं आपके लिये लाया हूँ, इनको आप स्वीकार कीजिये और धर्मपत्नीके रूपमे मेरी इस पुत्रीको, और जहाँ आप रहते हैं इस गाँवको भी ग्रहण कीजिये । तदनन्तर आप जिस देवकी उपासना करते हैं उसका मुझे उपदेश कीजिये ।'

राजाके वचन सुनकर, कन्याकी करुणाभरी स्थिति देखकर मुनिने उसको आश्वासन दिया और कहा कि 'हे शूद्र ! तू फिर यही सब वस्तुएँ मेरे लिये लाया है ? (क्या इन्हींसे ब्रह्मज्ञान खरीदा जा सकता है ?)' राजा चुप होकर बैठ गया । कुछ समय बाद मुनिने राजाको धनके अभिमानसे रहित हुआ जानकर ब्रह्मविद्याका उपदेश किया । मुनि रैक्व जहाँ रहते थे उस पुण्य प्रदेशका नाम रैक्वपर्ण हो गया ।

(छान्दोग्य उपनिषद्के आधारपर)

सत्यकाम जावाल और गुरु गौतमऋषि

(५)

गोसेवासे ब्रह्मज्ञान

जबाला नाम्नी एक सदाचारिणी ब्राह्मणी थी। उसके सत्यकाम नामक पुत्र था। जब वह विद्याध्ययन करने योग्य हुआ, तब एक दिन उसने गुरुकुल जानेकी इच्छासे अपनी मातासे पूछा—'हे पूजनीया माता! मै ब्रह्मचर्यपालन करता हुआ गुरुकी सेवामे रहना चाहता हूँ, गुरु मुझसे नाम और गोत्र पूछेगे; मै अपना नाम तो जानता ही हूँ परन्तु गोत्र नही जानता, अतएव मेरा गोत्र क्या है सो बतलाओ।'

जबालाने कहा—'बेटा! तू किस गोत्रका है, इस बातको मै नही जानती। मेरी जवानीमे, जब तू पैदा हुआ था, तब मेरे स्वामीके घरपर बहुत-से अतिथि आया करते थे। मेरा सारा समय उनकी सेवामे ही बीत जाता था, इससे मुझको तेरे पितासे गोत्र पूछनेका समय नही मिला, अतएव मै तेरा गोत्र नही जानती। मेरा नाम जबाला है और तेरा सत्यकाम; बस, मै इतना ही जानती हूँ। तुझसे आचार्य पूछे तो कह देना कि मै जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।'

माताकी आज्ञा लेकर सत्यकाम महर्षि हरिद्रुमके पुत्र गौतम ऋषिके घर गया और प्रार्थना करके बोला कि 'हे भगवन् ! मैं ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ आपके समीप रहकर सेवा करना चाहता हूँ । मुझे स्वीकार कीजिये ।' गुरुने बड़े स्नेहसे पूछा—'हे सौम्य ! तेरा गोत्र क्या है ?' सरल सत्यकामने नम्रतासे कहा—'भगवन् ! मेरा गोत्र क्या है, इस बातको मैं नहीं जानता । मैंने यहाँ आते समय मातासे पूछा था तब उन्होंने कहा कि मै युवा-वस्थामें अनेको अतिथियोकी सेवामे लगी रहनेके कारण स्वामीसे गोत्र नही पूछ सकी । युवावस्थामे जब तेरा जन्म हुआ था उसी समय तेरे पिताकी मृत्यु हो गयी थी, इसलिये शोक और दुःखसे पीडित होनेके कारण दूसरोंसे भी मेरा गोत्र नहीं पूछ सकी । मै केवल इतना ही जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तेरा सत्यकाम है । अतएव हे भगवन् ! मै जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ ।'

सत्यवादी सरलहृदय सत्यकामकी सीधी-सच्ची बात सुनकर ऋषि गौतम प्रसन्न होकर बोले—'वत्स ! ब्राह्मणको छोडकर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरल भावसे सच्ची बात नहीं कह सकता—**'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति'**—ऐसा सत्य और कपटरहित वचन कहनेवाला तू निश्चय ब्राह्मण है । मैं तेरा उपनयनसंस्कर करूँगा, जा ! थोडी-सी समिधा ले आ !'

विधिवत् उपनयनसंस्कार होनेके बाद वेदाध्ययन कराकर ऋषि गौतमने अपनी गोशालामेंसे चार सौ दुबली-पतली गौएँ चुनकर अधिकारी शिष्य सत्यकामसे कहा—'पुत्र ! इन गौओंको चराने वनमें ले जा । देख, जबतक इनकी संख्या पूरी एक हजार न हो

जाय तबतक वापस न आना।' सत्यकामने प्रसन्न होकर कहा—'भगवन्! इन गौओंकी संख्या पूरी एक हजार न हो जायगी, तबतक वापस नहीं आऊँगा।' **'नासहस्रेणावर्तयेति'**—यों कहकर सत्यकाम गौओंको लेकर जिस वनमें चारे-पानीकी बहुतायत थी, उसीमें चला गया और वहीं कुटिया बनाकर वर्षोंतक उन गौओंकी तन-मनसे खूब सेवा करता रहा।

गुरुभक्तिका कितना सुन्दर दृष्टान्त है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छावाले शिष्यको गौ चरानेके लिये गुरु वनमें भेज दें और वह चुपचाप आज्ञा शिरोधार्यकर वर्षोंतक निर्जन वनमें रहने चला जाय। यह बात ज्ञानपिपासु गुरुभक्त भारतीय ऋषिकुमारोंमें ही पायी जाती है। आजकी संस्कृति तो इससे सर्वथा विपरीत है! अस्तु!

सेवा करते-करते गौओंकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी। तब एक दिन एक वृषभने आकर पुकारा—'सत्यकाम!' सत्यकामने उत्तर दिया—'भगवन्! क्या आज्ञा है।' वृषभने कहा—'वत्स! हमारी संख्या एक हजार हो गयी है; अब हमें गुरुके घर ले चलो, मैं तुमको ब्रह्मके एक पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकामने कहा—'कहिये भगवन्!' इसके बाद वृषभने ब्रह्मके एक पादका उपदेश देकर कहा—'इसका नाम प्रकाशवान् है। अगला उपदेश तुझे अग्निदेव करेंगे।'

दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम गौओंको हाँककर आगे चला, सन्ध्याके समय रास्तेमें पड़ाव डालकर उसने गौओंको वहाँ रोका

और उन्हें जल पिलाकर रात्रिनिवासकी व्यवस्था की । तदनन्तर वनमेंसे काठ बटोरा और अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया । अग्निदेवने तीन बार कहा—'सत्यकाम !' सत्यकामने उत्तर दिया—'भगवन् ! क्या आज्ञा है ?' अग्निने कहा—'हे सौम्य ! मैं तुझे ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश करता हूँ ।' सत्यकाम बोला—'कीजिये भगवन् ।' तदनन्तर अग्निने ब्रह्मके दूसरे पादका उपदेश करके कहा—'इसका नाम अनन्तवान् है । अगला उपदेश तुझे हंस करेगा ।'

सत्यकाम रातभर उपदेशका मनन करता रहा । प्रातःकाल गौओंको हाँककर आगे बढ़ा और सन्ध्या होनेपर किसी सुन्दर जलाशयके किनारे ठहर गया । गौओंके लिये रात्रिनिवासकी व्यवस्था की और आप आग जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया । इतनेमें एक हंस ऊपरसे उड़ता हुआ आया और सत्यकामके पास बैठकर बोला—'सत्यकाम !' सत्यकामने कहा—'भगवन् ! क्या आज्ञा है ?' हंसने कहा—'हे सत्यकाम ! मै तुझे ब्रह्मके तीसरे पादका उपदेश करता हूँ ।' सत्यकामने कहा—'भगवन् ! कृपा करके कीजिये ।' पश्चात् हंसने ब्रह्मके तीसरे पादका उपदेश करके कहा—'इसका नाम ज्योतिष्मान् है । अगला उपदेश तुझे जलमुर्ग करेगा ।'

रातको सत्यकाम ब्रह्मके चिन्तनमें लगा रहा, प्रातःकाल गौओको हाँककर आगे चला और सन्ध्या होनेपर एक वटके वृक्षके नीचे ठहर गया । गौओकी उचित व्यवस्था करके वह अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया । इतनेमे एक जलमुर्गने आकर पुकारा

'सत्यकाम !' सत्यकामने उत्तर दिया 'भगवन् ! क्या आज्ञा है ?' मुर्गेने कहा 'वत्स ! मै तुझे ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश करता हूँ ।' सत्यकाम बोला—'प्रभो ! कीजिये ।' तदनन्तर जलमुर्गने आयतनवान्-रूपसे ब्रह्मका उपदेश किया ।

इस प्रकार सत्य, गुरुसेवा और गो-सेवाके प्रतापसे वृषभरूप वायु, अग्निदेव, हंसरूप सूर्यदेव और मुर्गरूप प्राणदेवतासे ब्रह्म-ज्ञान प्राप्तकर सत्यकाम एक हजार गौओके बड़े समूहको लेकर आचार्य गौतमके घर पहुँचा । उस समय उसके मुखमण्डलपर ब्रह्मतेज छिटक रहा था, आनन्दकी सहस्र-सहस्र किरणे झलमला रही थी । गुरुने सत्यकामकी चिन्तारहित, तेजपूर्ण दिव्य मुख-कान्तिको देखकर कहा—'वत्स सत्यकाम !' उसने उत्तर दिया 'भगवन् !' गुरु बोले—'हे सौम्य ! तू ब्रह्मज्ञानीके सदृश दिखायी दे रहा है, वत्स ! तुझको किसने उपदेश किया ?' सत्यकामने कहा—

'भगवन् ! मुझको मनुष्येतरोंसे उपदेश प्राप्त हुआ है ।' यो कहकर उसने सारा हाल सुना दिया और कहा—'भगवन् ! मैने सुना है कि—

भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं…… ।

'आप-सदृश आचार्यके द्वारा प्राप्त की हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अतएव मुझे आप ही पूर्णरूपसे उपदेश कीजिये ।' गुरु प्रसन्न हो गये और उन्होने कहा—'वत्स ! तूने जो कुछ प्राप्त किया है, यही ब्रह्मतत्त्व है । अब तेरे लिये कुछ भी जानना शेप नही रहा ।'

(छान्दोग्य-उपनिषद्‌के आधारपर)
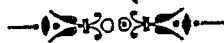
अग्निद्वारा उपदेश

कमलका पुत्र उपकोसल सत्यकाम जाबालके पास जाकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर रहने लगा। उसने पूरे बारह वर्षतक गुरुके अग्नियोंकी सेवा की। गुरुने अपने दूसरे शिष्य ब्रह्मचारियों-का समावर्तन (वेदाध्ययन पूर्ण करना) कर उन्हें घर जानेकी आज्ञा दी, परन्तु उपकोसलको आज्ञा नहीं दी।

उपकोसलके मनमे कुछ विषाद हो गया, यह देखकर गुरु-पत्नीके मनमें दया उपजी। उसने स्वामीसे कहा, 'इस ब्रह्मचारीने ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन किया है और श्रद्धापूर्वक विद्याध्ययन किया है और आपके अग्नियोंकी भलीभांति सेवा की है, अतएव इसका समावर्तन करके इसकी कामना पूर्ण कीजिये। नहीं तो ये अग्नि आपको उलाहना देंगे।' सत्यकामने बात सुनी-अनसुनी कर दी और वह बिना ही कुछ कहे यात्राके लिये घरसे चले गये।

उपकोसलको इससे बहुत दुःख हुआ ! वह मानसिक व्याधियोंसे दुखी हो गया और अन्न छोड़कर अनशन व्रत करने लगा। स्नेहमयी गुरुपत्नीने कहा—'हे ब्रह्मचारी ! तू भोजन कर ! किस लिये भोजन नहीं करता है ?' उसने कहा—'मेरे मनमें अनेकों कामनाएँ हैं, मैं अनेक प्रकारके मानसिक दुःखोंसे ग्रस्त हूँ, अतः मै कुछ भी नहीं खा सकूँगा।' गुरुपत्नी चुप हो गयी।

अग्नियोंने विचार किया कि 'इस तपस्वी ब्रह्मचारीने मन लगाकर हमारी बहुत ही सेवा की है, अतएव इसकी कामनाको हमलोग पूर्ण करें।' यह विचारकर अग्नियोंने उसे अलग-अलग ब्रह्मविद्याका यथोचित उपदेश किया ! उपदेशके अनन्तर सब

उपकोसल और सत्यकाम जावाल

अग्नियोने मिलकर उससे कहा—'हे सौम्य उपकोसल ! हमने तुझको अग्नि तथा आत्माका यथार्थ उपदेश दिया है, अब तेरे आचार्य आकर तुझे इस विद्याके फलका उपदेश देंगे ।'

कुछ दिनो बाद गुरु यात्रासे लौट आये, उन्होने शिष्यको पुकारा—'उपकोसल !' उसने कहा 'भगवन् !'

उपकोसलका मुख ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान हो रहा था, उसकी समस्त इन्द्रियाँ सात्त्विक प्रकाशको प्राप्त थी, यह देखकर आचार्यने हर्षमे भरकर पूछा—'बेटा उपकोसल ! तेरा मुख ब्रह्मज्ञानियोकी तरह चमक रहा है, बता, तुझको किसने ब्रह्मका उपदेश किया ?' किसी मनुष्यसे उपकोसलको उपदेश नही मिला था इससे उसने स्पष्ट न कहकर सांकेतिक भाषामे कहा—'भगवन् ! आपके बिना मुझे कौन उपदेश करता ? यह अग्नियाँ पहले मानो और प्रकारकेसे थे, अब आपको देखकर मानो डर-से रहे है ।' संकेतका अर्थ समझकर आचार्यने कहा—'वत्स ! अग्नियोने तुझे क्या उपदेश किया ।' उपकोसलने अग्नियोसे जो कुछ प्राप्त किया था, सब कह सुनाया । सुनकर गुरु बोले—'वत्स ! इन अग्नियोने तो तुझे लोकसम्बन्धी ही उपदेश किया है । मै तुझको उस पूर्ण ब्रह्मका उपदेश करूँगा, जिसका साक्षात् हो जानेपर जैसे कमलके पत्तेपर जलका स्पर्श नही होता, वैसे ही उसपर पापका स्पर्श नही हो सकता । शिष्यने कहा 'भगवन् ! आप उपदेश करे ।'

इसके बाद आचार्यने उपकोसलको ब्रह्मका रहस्यमय सम्पूर्ण उपदेश किया । और उसका समावर्तन करके उसे घर जानेकी आज्ञा दी ।

(छान्दोग्यउपनिषद्के आधारपर)

निरभिमानी शिष्य

उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लव-का पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्विका पुत्र बुडिल ये पाँचो महाशाल अर्थात् जिनकी शालामे असंख्य विद्यार्थी पढ़ते थे ऐसी महान् शालाओवाले महान् श्रोत्रिय यानी वेदका पठन-पाठन करनेवाले थे । एक दिन ये एकत्र होकर 'वास्तवमें आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है' इस विषयपर विचार करने लगे । परन्तु जब किसी निर्णयपर नही पहुँचे तब किसी दूसरे ब्रह्मवेत्ता विद्वान्के पास जाकर उनसे पूछनेका निश्चय कर आपसमे कहने लगे कि 'वर्तमान समयमे अरुणके पुत्र उद्दालक आत्मरूप वैश्वानर-को भलीभाँति जानते है, यदि सबकी राय हो तो हमको उनके पास चलना चाहिये ।' सबकी राय हो गयी और वे उद्दालकके पास गये ।

उद्दालकने उनको दूरसे देखते ही उनके आनेका प्रयोजन जान लिया और वे विचार करने लगे—'ये महाशाल और महान् श्रोत्रिय आते ही मुझसे पूछेंगे और मै इनके प्रश्नोका पूर्ण समाधान कर नहीं सकूँगा । इससे उत्तम यही है कि मै इन्हे किसी दूसरे योग्य पुरुषका नाम बतला दूँ ।' ऐसा विचारकर उद्दालकने उनसे कहा—'हे भगवन् ! मै जानता हूँ आप मुझसे आत्माके विषयमे कुछ पूछने पधारे है परन्तु इस समय केकयके पुत्र प्रसिद्ध राजा अश्वपति इस आत्मरूप वैश्वानरको भलीभाँति जानते है, यदि आप सबकी अनुमति हो तो हम सब उनके पास चले ।' सर्वसम्मतिसे सब राजा अश्वपतिके पास गये ।
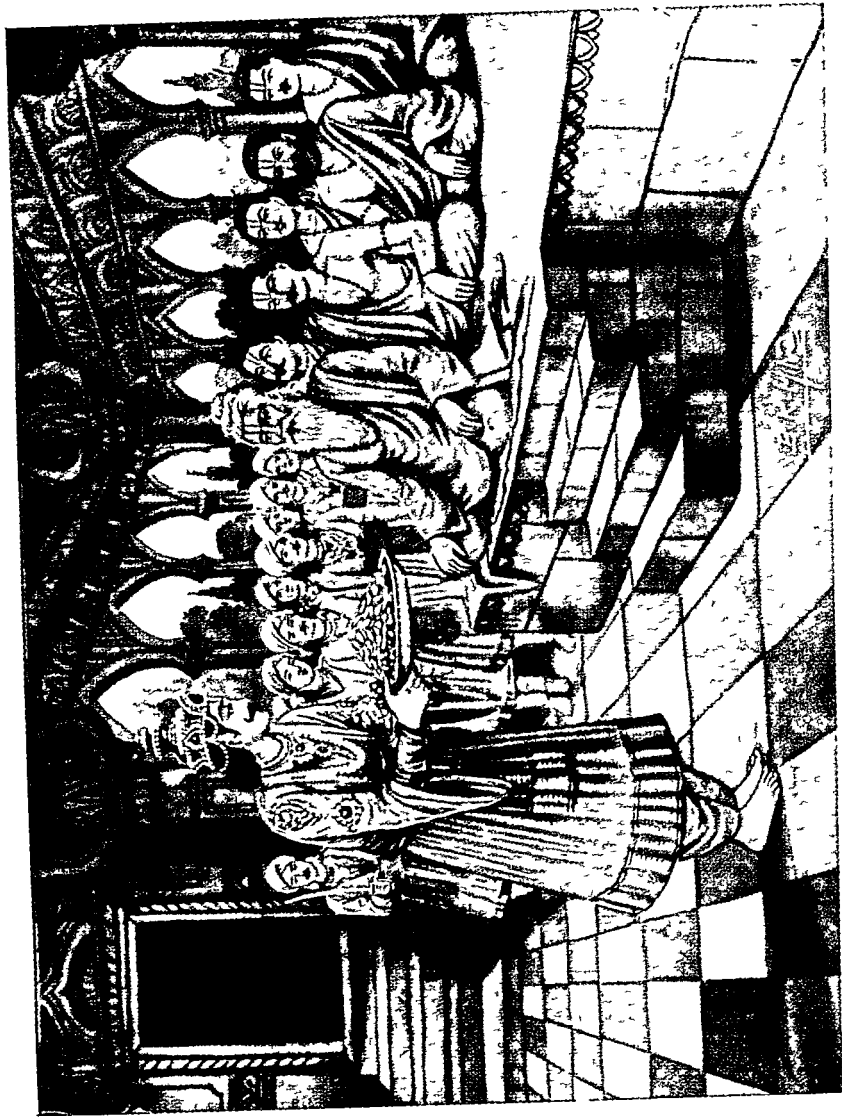
राजा अश्वपति और उद्दालक आदि ऋषि

अश्वपतिने उन छओ ऋषियो—अतिथियोका अपने सेवकोद्वारा यथायोग्य अलग-अलग भलीभॉति पूजन-सत्कार करवाया और दूसरे दिन प्रातःकाल राजा सोकर उठते ही उनके पास गये और बहुत-सा धन सामने रखकर विनयभावसे उसे ग्रहण करनेकी प्रार्थना करने लगे। परन्तु वे तो धनकी इच्छासे वहॉ नही गये थे, इससे उन्होने धनका स्पर्श भी नही किया और चुपचाप बैठे रहे। राजाने सोचा, शायद ये मुझे अधर्मी या दुराचारी समझते है, इसीलिये मेरा धन (दूषित समझकर) नही लेते। यह विचारकर राजा कहने लगे—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

'हे मुनियो! मेरे राज्यमे कोई चोर नही है, (क्योकि किसीके पास किसी वस्तुका अभाव नही है, कारण) मेरे देशमे ऐसा कोई धनी नही है जो कंजूस हो यानी यथायोग्य दान न करता हो। न मेरे देशमे कोई शराब पीता है, न कोई ऐसा द्विज है जो अग्निहोत्र न करता हो, न कोई ऐसा ही व्यक्ति है जो विद्वान् न हो; और न कोई व्यभिचारी पुरुष ही मेरे देशमे है, जब पुरुष ही व्यभिचारी नही है तो स्त्री तो व्यभिचारिणी होगी ही कहॉसे? अतएव मेरा धन शुद्ध है, फिर आप इसे क्यो नही लेते?'* मुनियोने कुछ भी उत्तर नही दिया। तब राजाने सोचा, शायद धन थोड़ा समझकर मुनि न लेते हो, अतएव वे फिर कहने लगे—

* राजाओंको इस आदर्शपर विचार करना चाहिये और इसीके अनुसार अपने राज्यके एक-एक पैसेको शुद्ध बनाना चाहिये।

'हे भगवन् ! मैं एक यज्ञका आरम्भ कर रहा हूँ, उस यज्ञमें मै एक-एक ऋत्विक्को जितना धन दूँगा, उतना ही आपमेंसे प्रत्येकको दूँगा । आप मेरे यहाँ ठहरिये और मेरा यज्ञ देखिये ।'

राजाकी यह वात सुनकर उन्होंने कहा—'हे राजन् ! मनुष्य जिस प्रयोजनसे जिसके पास जाता है, उसका वही प्रयोजन पूरा करना चाहिये । हमलोग आपके पास आत्मरूप वैश्वानरका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे आये हैं, क्योंकि इस समय आप ही उसको भलीभाँति जानते हैं इसलिये आप हमें वही समझाइये । हमें धन नहीं चाहिये ।'*

राजाने उनसे कहा—'हे मुनियो ! कल प्रातःकाल मैं इसका उत्तर आपको दूँगा ।' ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अभिमानका त्याग करना परम आवश्यक है, केवल मुँहसे माँगनेपर ज्ञान नहीं मिलता । वह अधिकारीको ही मिलता है । राजाके उत्तरसे मुनि इस वातको समझ गये और दूसरे दिन अभिमान त्यागकर सेवावृत्तिका परिचय देनेवाले समिधको हाथोंमें लेकर दुपहरसे पहले ही विनयके साथ शिष्यभावसे सव राजाके पास पहुँचे और जाते ही उनके चरणोंमें प्रणाम करने लगे । राजाने उनको चरणोंमें प्रणाम नहीं करने दिया, क्योंकि एक तो वे ब्राह्मण थे, और दूसरे सद्गुरु मान-वड़ाई-पूजाकी इच्छा नहीं रखते । तदनन्तर राजाने उन्हें गुरुरूपसे नहीं, किन्तु दाताके रूपसे वैश्वानररूप ब्रह्मविद्याका उपदेश किया !

(छान्दोग्य-उपनिषद्के आधारपर)

---

* इसी प्रकार जिज्ञासु साधकको किसी भी प्रलोभनमें न फँसकर अपने लक्ष्यपर दृढ रहना चाहिये ।

श्वेतकेतु और उसके पिता आरुणिऋषि

तत्त्वमसि

अरुणके पुत्र आरुणि उद्दालकके श्वेतकेतु नामक एक पुत्र था। वह बारह वर्षकी अवस्थातक केवल खेलकूदमे ही रहा। पिता सोचते रहे कि यह स्वयं ही विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा करे तो उत्तम है परन्तु उसने वैसी इच्छा नहीं की, तब पितासे नही रहा गया। उन्होने एक दिन उसे अपने पास बुलाकर कहा—'हे वत्स श्वेतकेतो! तू जा और सुयोग्य गुरुके समीप ब्रह्मचारी होकर रह। हे सौम्य! अपने वंशमे कोई भी ऐसा उत्पन्न नही हुआ जिसने वेदोका त्याग किया हो और जो ब्राह्मणके गुण और आचारोसे रहित होकर केवल नामधारी ब्राह्मण बनकर रहा हो। ऐसा करना योग्य नही है। सारांश, तुझे वेदोंका अध्ययन करके ब्रह्मको प्राप्त करना ही चाहिये।'

पिता आरुणिका मीठा उलाहना सुनकर श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामे गुरुके घर गया और पूरे चौबीस वर्षकी अवस्थातक गुरुगृहमे रहकर व्याकरणादि छः अङ्गोसहित चारो वेदोका पूर्ण अध्ययन करनेके पश्चात् गुरुकी आज्ञा लेकर घर लौटा। उसने मन-ही-मन विचार किया कि 'मै वेदका पूर्ण ज्ञाता हूँ, मेरे समान पण्डित और कोई नही है। मै सर्वोपरि विद्वान् और बुद्धिमान् हूँ।' इस प्रकारके विचारोसे उसके मनमे गर्व उत्पन्न हो गया, और वह उद्धत और विनयरहित होकर बिना ही प्रणाम किये पिताके सामने आकर बैठ गया। आरुणि ऋषि उसका नम्रतारहित औद्धत्यपूर्ण आचरण देखकर इस बातको जान गये कि इसको वेदके अध्ययनसे

तेजकी, सफेदी जलकी और श्यामता पृथ्वीकी है। यही बात सूर्य, चन्द्रमा और बिजलीमे है। यदि अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और बिजलीमेसे तेज, जल और पृथ्वीको निकाल लिया जाय तो अग्निमे अग्निपन, सूर्यमे सूर्यपन, चन्द्रमामे चन्द्रपन और विद्युत्मे विद्युत्पन कुछ भी नही रह जायगा। इसी प्रकार सभी वस्तुओमे समझना चाहिये। खाये हुए अन्नके भी तीन रूप हो जाते है। स्थूल भाग विष्ठा बन जाता है, मध्यम भाग मांस बनता है और सूक्ष्म भाग मनरूप हो जाता है। इसी तरह जलके स्थूल भागसे मूत्र बनता है, मध्यम भागसे रक्त बनता है और सूक्ष्म भाग प्राण बनता है। इसी प्रकार तैल, घृत आदि तैजस पदार्थोंके स्थूल भागसे हड्डी बनती है, मध्यम भाग मज्जारूप हो जाता है और सूक्ष्म भाग वाणीरूप होता है। अतएव मन अन्नमय है; प्राण जलमय है और वाक् तेजमय है अर्थात् मन अन्नसे बनता है, प्राण जलसे बनता है, और वाणी तेजसे बनती है।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'हे पिताजी! मुझको यह विषय और साफ करके समझाइये।' उद्दालक आरुणि बोले—हे सौम्य! जैसे दही मथनेसे उसका सूक्ष्म सार तत्त्व नवनीत ऊपर तैर आता है इसी प्रकार जो अन्न खाया जाता है, उसका सूक्ष्म सार अंश मन बनता है। जलका सूक्ष्म अंश प्राण और तेजका सूक्ष्म अंश वाक् बनता है। असलमे ये मन, प्राण और वाणी तथा इनके कारण अन्नादि कार्यकारणपरम्परासे मूलमे एक ही सत् वस्तु ठहरते है। सबका मूल कारण सत् है, वही परम आश्रय और अधिष्ठान है। सत्के कार्य नाना प्रकारकी आकृतियाँ सब

वाणीके विकार है, नाममात्र है । यह सत् अणुकी भाँति सूक्ष्म है, समस्त जगत्का आत्मारूप है, जैसे सर्पमे रज्जु कल्पित है, इसी प्रकार जगत् इस 'सत्' मे कल्पित है । हे श्वेतकेतो ! वह 'सत्' वस्तु तू ही है । 'तत्त्वमसि'

हे सौम्य ! जैसे शहदकी मक्खी अनेक प्रकारके वृक्षोके रसको एकत्र करके उसको एकरस करके शहदके रूपमे परिणत करती है, शहदरूपको प्राप्त रस जैसे यह नही जानता कि मै आमके पेड़का रस हूँ या मै कटहरके वृक्षका रस हूँ, इसी प्रकार सुषुप्तिकालमे जीव 'सत्' वस्तुके साथ एकीभावको प्राप्त होकर यह नही जानते कि हम सत्मे मिल गये है । सुषुप्तिसे जागकर पुनः वे अपने-अपने पहलेके बाघ, सिंह, वृक, शूकर, कीट, पतंग और मच्छरके शरीरको प्राप्त हो जाते है । यह जो सूक्ष्म तत्त्व है यही आत्मा है, यह सत् है और हे श्वेतकेतो ! वह तू ही है । 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन् ! मुझको फिर समझाइये ।' आरुणि बोले—'हे सौम्य ! जैसे समुद्रके जलसे ही बादलोके द्वारा पुष्ट हुई गंगा आदि नदियाँ अन्तमे समुद्रमे ही मिलकर अपने नामरूपको त्याग देती है, यह नही जानती कि 'मै गंगा हूँ, मै नर्मदा हूँ' और सर्वथा समुद्रभावको प्राप्त हो जाती है । और फिर मेघके द्वारा वृष्टिरूपसे समुद्रसे बाहर निकल आती है किन्तु यह नही जानती कि हम समुद्रसे निकली है । इसी प्रकार ये जीव भी 'सत्' मेसे निकलकर सत्मे ही लीन होते है और पुनः उसीसे

निकलते है परन्तु यह नही जानते कि हम 'सत्' से आये है। और यहाँ वही बाघ, सिंह, वृक, शूकर, कीट, पतंग या मच्छर जो-जो पहले होते है वे हो जाते हैं। यह जो सूक्ष्म तत्त्व सबका आत्मा है, यह सत् है, यही आत्मा है और हे श्वेतकेतो! यह सत् तू ही है!' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिरसे समझाइये।' उद्दालक आरुणिने 'तथास्तु' कहकर समझाना शुरू किया—

हे सौम्य! बडे भारी वृक्षकी जड़पर कोई चोट करे तो वह एक ही चोटमे सूख नही जाता, वह जीता है और उस छेदमेसे रस झरता है। वृक्षके बीचमे छेद करनेपर भी वह सूखता नहीं, छेदमेसे रस झरता है, इसी प्रकार अग्रभागपर चोट करनेसे भी वह जीता है और उसमेसे रस टपकता है। जबतक उसमे जीवात्मा व्याप्त रहता है तबतक वह मूलके द्वारा जल ग्रहण करता हुआ आनन्दसे रहता है। जब इस वृक्षकी शाखाओमे एक शाखासे जीव निकल जाता है तब वह सूख जाती है, दूसरीसे निकलनेपर दूसरी, और तीसरीसे निकलनेपर तीसरी सूख जाती है। और जब सारे वृक्षको जीव त्याग देता है तब वह सब-का-सब सूख जाता है। इसी प्रकार यह शरीर भी जब जीवसे रहित होता है तभी मृत्युको प्राप्त होता है। जीव कभी मृत्युको प्राप्त नही होता, यह जीवरूप सूक्ष्म तत्त्व ही आत्मा है। यह सत् है, यही आत्मा है और हे श्वेतकेतो! 'वह सत् तू ही है।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' पिता आरुणिने कहा—'अच्छा, एक बडा फल तोडकर ला! फिर

तुझे समझाऊँगा ।' श्वेतकेतु फल ले आया । पिताने कहा—'इसे तोडकर देख इसमे क्या है ?' श्वेतकेतुने फल तोड़कर कहा—'भगवन् ! इसमे छोटे-छोटे बीज है ।' ऋषि बोले, 'अच्छा, एक बीजको तोड़कर देख उसमे क्या है ?' 'श्वेतकेतुने बीजको फोड़-कर कहा—'इसमे तो कुछ भी नही दीखता ।' तब पिता आरुणि बोले—'हे सौम्य ! तू इस वट-बीजके सूक्ष्म भावको नही देखता, इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वसे ही महान् वटका वृक्ष निकलता है । बस, जैसे यह अत्यन्त सूक्ष्म वट-बीज बड़े भारी वटके वृक्षका आधार है, इसी प्रकार सूक्ष्म सत् आत्मा इस समस्त स्थूल जगत्-का आधार है । हे सौम्य ! मै सत्य कहता हूँ, तू मेरे वचनमे श्रद्धा रख । यह जो सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है वह सत् है और यही आत्मा है । हे श्वेतकेतो ! वह 'सत्' तू ही है ।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन् ! मुझको पुनः दूसरे दृष्टान्तसे समझाइये ।' उद्दालकने एक नमककी डली श्वेतकेतुके हाथमे देकर कहा—'वत्स ! इस डलीको अभी जलसे भरे हुए लोटेमे डाल दे और फिर कल सवेरे उस लोटेको लेकर मेरे पास आना ।' श्वेतकेतुने ऐसा ही किया । दूसरे दिन प्रातःकाल जब श्वेतकेतु जलका लोटा लेकर पिताके पास गया, तब उन्होने कहा—'हे सौम्य ! रातको जो नमककी डली लोटेमे डाली थी, उसको जलमेसे ढूँढ़कर निकाल तो दे, मै उसे देखूँ ।' श्वेतकेतुने देखा, पर नमककी डली उसे नही मिली, क्योकि वह तो जलमे गलकर जलरूप हो गयी थी । तब आरुणिने कहा—'अच्छा, इसपेसे इस तरफसे थोड़ा-सा जल

चखकर बता तो कैसा है ?' श्वेतकेतुने आचमन करके कहा—'पिताजी ! जल खारा है ।' आरुणि बोले—'अच्छा, अब बीचमेंसे लेकर चखकर बता ।' श्वेतकेतुने चखकर कहा—'पिताजी ! यह भी खारा है ।' आरुणिने कहा—'अच्छा ! अब दूसरी ओरसे जरा-सा पीकर बता कैसा स्वाद है ?' श्वेतकेतुने पीकर कहा—'पिताजी ! इधरसे भी स्वाद खारा ही है ।' अन्तमे पिताने कहा—'अब सब ओरसे पीकर, फिर जलको फेंक दे और मेरे पास चला आ ।' श्वेतकेतुने वैसा ही किया और आकर पितासे कहा—'पिताजी ! मैंने जो नमक जलमे डाला था, यद्यपि मैं अपनी ऑखोसे उसको नही देख पाता परन्तु जीभके द्वारा मुझको उसका पता लग गया है कि उसकी स्थिति उस जलमे सदा और सर्वत्र है ।' पिताने कहा—'हे सौम्य ! जैसे तू यहॉ उस प्रसिद्ध 'सत्' नमकको नेत्रोंसे नही देख सका तो भी वह विद्यमान है इसी प्रकार यह सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है । वह सत् है और वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा तू ही है ।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी ! मुझे फिर उपदेश कीजिये ।' तब मुनि उद्दालक बोले—'सुन ! जैसे चोर ऑखोपर पट्टी बॉधकर किसी मनुष्यको बहुत दूरके गान्धार देशसे लाकर किसी जङ्गलमे निर्जन प्रदेशमे छोड दे और वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारो दिशाओकी ओर देख-देखकर सहायताके लिये पुकार करके कहे कि 'मुझको ऑखोंपर पट्टी बॉंधकर चोरोंने यहॉ लाकर छोड दिया है' और जैसे उसकी करुण पुकारको सुनकर कोई दयालु पुरुष दयावश उसकी ऑखोंकी पट्टी खोल दे और

उससे कह दे कि 'गान्धार देश इस दिशामे है, तू इस रास्तेसे चला जा, वहाँ पहुँच जायगा।' और वह बुद्धिमान् अधिकारी पुरुष जैसे उस दयालु पुरुषके वचनोपर श्रद्धा रखकर उसके बताये मार्गपर चलने लगता है और एक गाँवसे दूसरे गाँव पूछ-परछ करता हुआ आखिर अपने गान्धार देशको पहुँच जाता है। इसी प्रकार अज्ञानकी पट्टी बाँधे हुए काम, क्रोध, लोभादि चोरोंके द्वारा संसाररूपी भयङ्कर वनमे छोड़ा हुआ जीव ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके दयापरवश हो बतलाये हुए मार्गसे चलकर अविद्याके फन्देसे छूटकर अपने मूल स्वरूप 'सत्' आत्माको प्राप्त हो जाता है। यह जो सूक्ष्म तत्त्व है, सो आत्मा है। वह सत् है, वही आत्मा है, हे श्वेतकेतो! वह सत् आत्मा तू ही है। 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! कृपापूर्वक मुझको फिर उपदेश कीजिये।' तब मुनि उद्दालक बोले—'सुन, जैसे कोई एक रोगी मनुष्य मरनेवाला होता है, तब उसके सम्बन्धी लोग उसे घेरकर पूछते है कि तुम हमे पहचानते हो या नही? जबतक उस रोगी जीवकी वाणीका मनमे, मनका प्राणमे, प्राणका तेजमें और तेजका ब्रह्ममे लय नही हो जाता तबतक वह सबको पहचान सकता है। परन्तु जब उसकी वाणीका मनमे, मनका प्राणमे, प्राणका तेजमे, और तेजका ब्रह्ममे लय हो जाता है तब वह किसीको नही पहचान सकता। यह जो सूक्ष्म भाव है सो आत्मा है, वह सत् है, वही आत्मा है, हे श्वेतकेतो! वह आत्मा तू ही है। 'तत्त्वमसि'।'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! कृपापूर्वक मुझे फिर समझाइये,'

तब मुनि कहने लगे,—'अच्छा सुन ! एक आदमी चोरीके सन्देहमे पकड़ा जाता है, और उससे पूछा जाता है कि तैंने चोरी की या नही, वह अस्वीकार करता है। तब राज्यके अधिकारी जलती हुई कुल्हाड़ी लाकर उसके हाथमें देनेकी आज्ञा करते है, कुल्हाड़ी लायी जाती है और यदि उसने चोरी की है और झूठ बोलकर छूटना चाहता है तो आत्माको असत्यके साथ जोडनेके कारण कुल्हाडीका स्पर्श होते ही उसका हाथ जल जाता है और उसे अपराधके लिये दण्ड दिया जाता है। परन्तु यदि वह चोर नहीं होता, और सत्य ही कहता है तो आत्माको सत्यके साथ संयुक्त रखनेके कारण उसका हाथ उस कुल्हाड़ीसे नहीं जलता और वह बन्धनसे छूट जाता है।*

इस प्रकार सत्यताके कारण जलती हुई कुल्हाडीसे सत्यवक्ता बच जाता है, इससे सिद्ध होता है कि जीव सत् है, वह सत् है, वही आत्मा है। हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा तू ही है। 'तत्त्वमसि'।

इस प्रकार पिता उद्दालक आरुणिके उपदेशसे श्वेतकेतु आत्माके अपरोक्ष ज्ञानको प्राप्त होकर कृतार्थ हो गया। (छान्दोग्य उपनिषद्के आधारपर)

* इस वर्णनसे पता लगता है कि प्राचीनकालमें सत्यपर कितना विश्वास था। सत्यके प्रतापसे उस सत्यमय वातावरणमे जलती हुई कुल्हाडी भी सत्यवक्ताके हाथ नहीं जला सकती थी, और असत्यका आश्रयी उसीसे जलकर दण्डित होता था।

(९)

एक सौ एक वर्षका ब्रह्मचर्य

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ।

(छान्दो० ८ । ७ । १)

एक समय प्रजापतिने कहा कि 'आत्मा पापसे रहित, बुढ़ापेसे रहित, मृत्युसे रहित, शोकसे रहित, क्षुधासे रहित, पिपासासे रहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है। उस आत्माकी खोज करनी

५

चाहिये। वही जानने योग्य है। जो उस आत्माको जानकर उसका अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण लोकोंको और सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त करता है।'

प्रजापतिके इस वचनको सुनकर देवता और असुर दोनोंने आत्माको जाननेकी इच्छा की। देवताओंमें इन्द्र और असुरोंमें विरोचन प्रतिनिधि चुने गये और उन दोनोंने प्रजापतिके पास जानेका विचार किया। परस्पर द्वेषके कारण आपसमें एक दूसरे-से कुछ भी न कहकर दोनों समित्पाणि होकर विनयपूर्वक प्रजापतिके पास गये।*

दोनोंने वहाँ जाकर परस्परकी ईर्षाको भुलाकर लगातार बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन किया। इसके बाद प्रजापतिने उनसे पूछा—

किमिच्छन्ताववास्तम्

'किस इच्छासे तुम दोनों यहाँ आकर रहे हो?'

उन्होंने कहा—'भगवन्! आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्यु-रहित, शोकरहित, क्षुधा और पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, वह जानने योग्य है, वही अनुभव करने योग्य है, जो उसको जानकर उसका अनुभव करता है वह सम्पूर्ण लोको और सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त होता है। आपके ये वचन सबने

* यह नियम है कि—'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' (मुण्डक० १।२।१२)

'शिष्यको हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाना चाहिये।'

सुने है इसीसे उस आत्माको जाननेकी इच्छासे हम लोग यहाँ आये है ।'

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एव आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति ।

प्रजापतिने कहा 'आँखोमे यह जो पुरुष द्रष्टा अन्तर्मुखी दृष्टि-वालोको दीखता है, यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय है, यही ब्रह्म है ।'

इन्द्र और विरोचनने अशुद्ध बुद्धि होनेके कारण इस कथन-को अक्षरशः ज्यो-का-त्यो ग्रहण कर लिया । उन्होने समझा कि नेत्रोमे जो मनुष्यका प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है वही आत्मा है । इसी निश्चयको दृढ करनेके लिये उन्होने प्रजापतिसे फिर पूछा—'हे भगवन् ! जलमे जो पुरुषका प्रतिबिम्ब दीखता है अथवा दर्पणमे शरीरका जो प्रतिबिम्ब दीखता है, इन दोनोमेसे आपका बतलाया हुआ ब्रह्म कौन-सा है ? क्या ये दोनो एक ही है ।' प्रजापतिने कहा 'हाँ, हाँ, वह इन दोनोमे ही दीख सकता है । वही प्रत्येक वस्तुमे है ।'

इसके बाद प्रजापतिने उनसे कहा—'जाओ ! उस जलसे भरे हुए कुण्डमे देखो और यदि वहाँ आत्माको न पहचान सको तो फिर मुझसे पूछना, मै तुम्हे समझाऊँगा ।' दोनो जाकर कुण्डमें अपना प्रतिबिम्ब देखने लगे । प्रजापतिने पूछा 'तुम लोग क्या देखते हो ?' उन्होने कहा—

सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति ।

'भगवन् ! नखसे लेकर शिखातक हम सारे आत्माको देख रहे हैं ।' नखसिखकी बात सुनकर ब्रह्माजीने फिर कहा—'अच्छा, तुम जाओ और शरीरोंको स्नान कराकर अच्छे-अच्छे गहने पहनो और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र धारण करो । फिर जाकर जलके कुण्डमें देखो ।' नख और केशके सदृश यह शरीर भी अनात्म है । इसी बातको समझानेके लिये प्रजापतिने यों कहा, परन्तु उन दोनोंने इस बातको नहीं समझा । वे दोनों अच्छी तरह नहा-धोकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालङ्कारोंसे सजकर कुण्डपर गये और उसमें प्रतिबिम्ब देखने लगे । प्रजापतिने पूछा—'क्या देखते हो ?' उन्होंने कहा—'हे भगवन् ! जैसे हमने सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण किये हैं, इसी प्रकार हमारे इस आत्माने भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालङ्कारों-को धारण किया है ।'

प्रजापतिने सोचा कि अन्तःकरणकी अशुद्धिके कारण आत्माका यथार्थ स्वरूप इनकी समझमें नहीं आया, सम्भवतः मेरे वचनोंका मनन करनेसे इनके प्रतिबन्धक संस्कारोंके दूर होनेपर इनको आत्मस्वरूपका ज्ञान हो सकेगा । यों विचारकर प्रजापतिने कहा—'यही आत्मा है, यही अविनाशी है, यही अभय है, यही ब्रह्म है ।'

प्रजापतिके वचन सुन इन्द्र और विरोचन सन्तुष्ट होकर अपने-अपने घरकी ओर चले । उनको यों ही जाते देखकर प्रजापतिने मनमें कहा—

अनुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वासुरा वा ते पराभविष्यन्ति ।

'ये बेचारे आत्माको जाने बिना ही, साक्षात् अनुभव किये बिना ही जा रहे है। इन देव और असुरोमेसे जो कोई भी इस (प्रतिबिम्ब-आधार शरीरको ही ब्रह्म माननेके) उपनिषद्‌वाले होगे, उनका तो पराभव ही होगा।'

विरोचन तो अपनेको ज्ञानी मानकर शान्त हृदयसे असुरोके पास जा पहुँचा और 'प्रतिबिम्बके निमित्त शरीरको ही आत्मा समझकर उसने इस शरीरमे आत्मबुद्धिरूप उपनिषद्‌का उपदेश आरम्भ कर दिया। उसने कहा—'प्रजापतिने शरीरको ही आत्मा बतलाया है, इसलिये यह शरीररूपी आत्मा ही पूजा करने योग्य है, यही सेवा करने योग्य है, इस जगत्मे केवल इस शरीररूपी आत्माकी ही पूजा और सेवा करनी चाहिये। इसीकी सेवासे मनुष्यको दोनो लोक (दोनो लोकोमे सुख) प्राप्त हो सकता है।'

इस देहात्मवादके कारणसे जो दान नहीं करता, सत्कार्योंमे श्रद्धा नही रखता तथा यज्ञादि नही करता, उसको आज भी असुर कहा जाता है! यह देहात्मवादी उपनिषद् असुरोका ही चलाया हुआ है। ऐसे लोग शरीरको ही आत्मा समझकर इसे गहने, कपडे आदिसे सजाया करते है। और सारा जीवन इस शरीरकी सेवा-पूजामे ही खो देते है। अन्तमे यही लोग मृत शरीरको भी गहने-कपडोसे सजाकर ऐसा समझते है कि हम स्वर्गको जीत लेगे। **'अमुं लोकं जेष्यन्तः।'**

इधर दैवी सम्पदावाले इन्द्रको स्वर्गमें पहुँचनेसे पहले ही विचार हुआ कि 'प्रजापतिने तो आत्माको अभय कहा है, परन्तु

इस प्रतिविम्बरूप आत्माको तो अनेक भय रहते है। जब शरीर सजा होता है तो प्रतिविम्ब भी सजा हुआ दीखता है, शरीरपर सुन्दर वस्त्र होते है तो प्रतिविम्ब भी सुन्दर वस्त्रोवाला दीखता है, शरीर नख-केशके रहित साफ-सुथरा होता है तो प्रतिविम्ब भी साफ-सुथरा दीखता है। इसी प्रकार यदि शरीर अन्धा होता है तो प्रतिविम्ब भी अन्धा होता है, शरीर काला होता है तो प्रतिविम्ब भी काला दीखता है, शरीर लूला-लॅंगड़ा होता है तो प्रतिविम्ब भी लूला-लँगड़ा दीखता है, शरीरका नाश होता है तो प्रतिविम्ब भी नष्ट हो जाता है। इसलिये इसमे तो मै कुछ भी आत्मस्वरूपता नहीं देखता।'

इस प्रकार विचारकर इन्द्र समित्पाणि होकर फिर प्रजापतिके पास आया। प्रजापतिने इन्द्रको देखकर कहा—'इन्द्र! तुम तो विरोचनके साथ ही शान्त हृदयसे वापस चले गये थे, अब फिर किस इच्छासे आये हो?' इन्द्रने कहा—'भगवन्! जैसा शरीर होता है वैसा ही प्रतिबिम्ब दीखता है, शरीर सुन्दर वस्त्रालङ्कृत और परिष्कृत होता है तो प्रतिविम्ब भी वस्त्रालङ्कृत और परिष्कृत दीखता है। शरीर अन्ध, स्राम या अंगहीन होता है तो प्रतिविम्ब भी वैसा ही दीखता है। शरीरका नाश होता है तो इस प्रतिविम्ब-रूप आत्माका भी नाश होता है। अतएव इसमे मुझे कोई आनन्द नहीं दीख पड़ता।'

प्रजापतिने इन्द्रके वचन सुनकर कहा—'हे इन्द्र! ऐसी ही बात है। वास्तवमे प्रतिबिम्ब आत्मा नहीं है, मै तुम्हे फिर समझाऊँगा, अभी फिर बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतसे यहाँ रहो।'

इन्द्र बत्तीस वर्षतक फिर ब्रह्मचर्यके साथ गुरुके समीप रहा, तब प्रजापतिने उससे कहा—

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति ।

'जो इस स्वप्नमे पूजित होता हुआ विचरता है, स्वप्नमें अनेक भोग भोगता है वह आत्मा है, वही अभय है, अमृत है, वही ब्रह्म है ।'

इन्द्र शान्त हृदयसे अपनेको कृतार्थ समझकर चला परन्तु देवताओके पास पहुँचनेके पहले ही उसने सोचा कि 'स्वप्नके द्रष्टा आत्मामे भी दोप है । यद्यपि शरीर अन्धा होनेसे यह स्वप्नका द्रष्टा अन्धा नही होता, शरीरके स्राम (व्याधिपीडित) होनेसे यह स्राम नही होता, शरीरके दोपसे यह दूषित नही होता, शरीरके बधसे इसका बध नही होता तथापि यह नाश होता हुआ-सा, भागता हुआ-सा, शोकग्रस्त होता हुआ-सा और रोता हुआ-सा लगता है इससे मैं इसमे भी कोई आनन्द नही देखता ।'

इस प्रकार विचारकर इन्द्र हाथमे समिधा लेकर फिर प्रजापतिके समीप आया और प्रजापतिके पूछनेपर उसने अपनी शंका उनको सुनायी ।

प्रजापतिने कहा—'इन्द्र ! ठीक यही बात है । स्वप्नका द्रष्टा आत्मा नही है । मै तुम्हे फिर उपदेश करूँगा, तुम फिर बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतसे यहॉपर रहो ।'

इन्द्र तीसरी बार बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यके साथ फिर रहा । इसके बाद प्रजापतिने कहा—'जिसमे यह जीव निद्राको प्राप्त होकर सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापार शान्त हो जानेके कारण सम्पूर्ण रीतिसे

निर्मल और पूर्ण होता है और स्वप्नका अनुभव नहीं करता, यह आत्मा है, अभय है, अमृत है, यही ब्रह्म है।'

इन्द्र आत्माका यथार्थ स्वरूप समझमें आ गया मानकर शान्त हृदयसे स्वर्गकी ओर चला परन्तु देवताओंके पास पहुँचनेके पहले ही मार्गमें विचार करनेपर उसे सुषुप्ति-अवस्थामें पड़े हुए जीवको आत्मा समझनेमें दोष दीख पड़ा। उसने सोचा कि 'सुषुप्ति-अवस्थामें आत्मा जाग्रत् और स्वप्नकी तरह 'यह मैं हूँ' ऐसा अपनेको नहीं जानता। न इन भूतोंको जानता है और उसमेंसे विनाशको ही प्राप्त होता है। यानी सुषुप्ति-अवस्थाका सुख भी निरन्तर नहीं भोग सकता अतएव इसमें भी कोई आनन्द नहीं दीखता।'

इस प्रकार विचारकर इन्द्र समित्पाणि होकर चौथी बार फिर प्रजापतिके पास आया। उसे देखकर प्रजापतिने कहा—'तुम तो शान्त हृदयसे चले गये थे, लौटकर कैसे आये?' इन्द्रने कहा 'भगवन्! इस सुषुप्तिमें स्थित यह आत्मा जाग्रत् और स्वप्नमें जैसे अपनेको जानता है वैसा वहाँ 'यह मैं हूँ' यों नहीं जानता, इन भूतोंको भी नहीं जानता और इस अवस्थामेंसे इसका विनाश-सा भी होता है अतएव मैं इसमें भी कोई आनन्द नहीं देखता।'

प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! ठीक है। सुषुप्तिमें पड़ा हुआ जीव वास्तवमें आत्मा नहीं है। मैं तुम्हें फिर इसी आत्माका ही उपदेश करूँगा, किसी दूसरे पदार्थका नहीं। तुम यहाँ पाँच सालतक फिर ब्रह्मचर्यव्रतसे रहो।'

तीन बार बत्तीस-बत्तीस वर्षका ब्रह्मचर्यव्रत पालन करनेपर भी प्रतिबन्धकरूप तनिक-से भी हृदयके मलको नाश करके प्रकृत अधिकारी बनानेके हेतुसे फिर पाँच वर्ष ब्रह्मचर्यके लिये प्रजापतिने आज्ञा दे दी। पूरे एक सौ एक वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन कर चुकनेपर प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! यह शरीर मर्त्य है, सर्वदा मृत्युसे ग्रस्त है, तो भी यह अमृतरूप तथा अशरीरी आत्माका अधिष्ठान (रहने और भोगादि भोगनेका स्थान) है। यह अशरीरी आत्मा जब अविवेकसे सशरीर अर्थात् शरीरमे आत्मभाव रखनेवाला होता है, तभी सुख-दुःखसे ग्रस्त होता है। जहाँतक देहात्मबोध रहता है वहाँतक सुख-दुःखसे छुटकारा नही मिल सकता। विज्ञानसे जिसका देहात्मभाव नष्ट हो गया है उस अशरीरीको निःसन्देह सुख-दुःख कभी स्पर्श नही कर सकते।' इसके बाद वायु, अभ्र और विद्युदादिका दृष्टान्त देते हुए अन्तमे प्रजापतिने कहा, 'इस शरीरमे जो मै देखता हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा है और नेत्र उसके रूपके ज्ञानका साधन है; जो इस गन्धको मै सूँघता हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा है और गन्धके ज्ञानके लिये नासिका है; जो मै इस वाणीका उच्चारण करता हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा है और उसके उच्चारणके लिये वाणी है, जो मै सुनता हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा है और उसके श्रवणके लिये श्रोत्र है; जो जानता है कि मै आत्मा हूँ वह आत्मा है और मन उसका दैवी चक्षु है। अपने स्वस्वरूपको प्राप्त वह मुक्त इस अप्राकृत चक्षुरूपी मनके द्वारा इन भोगोको देखता हुआ आनन्दको प्राप्त होता है।' यही आत्मतत्त्व है।

इन्द्र आनन्दमे मग्न हो गया और देवलोकमे लौटकर उसने देवताओंको इस आत्माका उपदेश किया। देवताओंने इस आत्माकी उपासना की। इसीसे उन्हे सर्वलोक और सम्पूर्ण भोगोंकी प्राप्ति हुई। जो इस आत्माको भलीभाँति जानकर इसका साक्षात्कार करता है, वही सर्वलोक और सम्पूर्ण आनन्दको प्राप्त होता है *। (छान्दोग्य उपनिषद्के आधारपर)
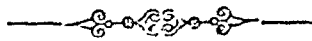
* इस प्रकारकी तीव्र जिज्ञासा और अटल श्रद्धा होनेपर ही ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपकी उपलब्धि हुआ करती है। स्वर्गके विशाल भोगोंको छोड़कर लगातार एक सौ एक वर्षांतक ब्रह्मचर्यका पालन करनेके अनन्तर देवराज इन्द्रको प्रजापति यथार्थ उपदेश करते हैं और तभी उन्हें ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। आजकल लोग बिना ही श्रद्धा और साधनके अनायास मुफ्तमे ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेना चाहते हैं। गुरुको खोजने और उसके समीप जानेकी भी आवश्यकता नहीं समझते। इसी कारण जैसे-के-तैसे रह जाते हैं। प्रथम तो गुरु मिलते नहीं, मिलते हे तो विषयान्ध मनुष्य उन्हें पहचानते नहीं। बिना पहचाने और बिना ही पूछे यदि सत्पुरुष अपनी स्वाभाविक दयासे कुछ उपदेश कर देते हैं तो श्रद्धाके अभावसे वह ग्रहण नहीं किया जाता। वास्तवमे अनधिकारीको बिना पूछे उपदेश देनेका कोई महत्त्व नहीं रहता, इसीसे महात्मा लोग बिना पूछे प्राय. कुछ कहा भी नहीं करते। इन सब बातोंपर विचार करके जिन लोगोंको दु खोंसे सर्वदा मुक्त होनेकी अभिलाषा है उनको चाहिये कि ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे सम्पन्न होकर श्रद्धा और भक्तिसमन्वित हृदयसे सद्गुरु और शास्त्रोंकी शरण ले एव तर्कसे सदा बचे रहकर विश्वासपूर्वक उनकी आज्ञानुसार लक्ष्यका अनुसन्धान करके उसीमें चित्तकी वृत्तियोंको विलीन कर दें।

देवता, असुर और मनुष्योंको प्रजापतिका उपदेश

(१०)

तीन बार 'द'

एक समय देवता, मनुष्य और असुर सबके पितामह प्रजापति ब्रह्माजीके पास शिष्य-भावसे विद्या सीखने गये, एवं नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए उनकी सेवा करने लगे। इस प्रकार कुछ काल बीत जानेपर उन्होने उपदेश ग्रहण करना चाहा। सबसे पहले देवताओने जाकर प्रजापतिसे प्रार्थना की 'भगवन् ! हमे उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उत्तरमे एक ही अक्षर कह दिया 'द'। स्वर्गमे भोगोकी भरमार है, भोग ही देवलोकका सुख माना गया है, कभी वृद्ध न होकर देवगण सदा इन्द्रिय-भोगोमे लगे रहते है, अपनी इस अवस्थापर विचारकर देवताओने 'द' का अर्थ 'दमन'— इन्द्रिय-संयम समझा और अपनेको कृतकृत्य मानकर प्रजापतिको प्रणाम कर वे वहाँसे चलने लगे। प्रजापतिने पूछा 'क्यो, मेरे उपदेश किये हुए अक्षरका अर्थ तो तुम समझ गये न ?' देवताओने कहा 'जी, समझ गये, आपने हम विलासियोको इन्द्रिय-दमन करनेकी आज्ञा की है।' प्रजापतिने कहा 'तुमने ठीक समझा, मेरे 'द' कहनेका यही अर्थ था। जाओ, परन्तु मेरे उपदेशके अनुसार चलना, तभी तुम्हारा कल्याण होगा।'

तदनन्तर मनुष्योने प्रजापतिके पास जाकर कहा—'भगवन् ! हमे उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उनको भी वही 'द' अक्षर सुना दिया। मनुष्योने विचार किया हम कर्मयोनि होनेके कारण सदा लोभवश कर्म करने और अर्थ-संग्रह करनेमे ही लगे रहते है।

इसलिये प्रजापतिने हम लोभियोंको 'दान' करनेका उपदेश किया है। यह निश्चय कर वे अपनेको सफलमनोरथ मानकर चलने लगे, तब प्रजापतिने उनसे पूछा 'तुमलोग मेरे कथनका अर्थ समझकर जा रहे हो न ?' संग्रहप्रिय मनुष्योंने कहा 'जी हाँ, समझ गये, आपने हमे दान करनेकी आज्ञा दी है।' यह सुनकर प्रजापति प्रसन्न होकर बोले—'हाँ, मेरे कहनेका यही अर्थ था, तुमने ठीक समझा है। अब इसके अनुसार चलना, तभी तुम्हारा कल्याण होगा।'

इसके पश्चात् असुरोंने प्रजापतिके पास जाकर प्रार्थना की 'भगवन्! हमे उपदेश कीजिये।' इनको भी प्रजापतिने 'द' अक्षरका ही उपदेश किया। असुरोंने समझा, 'हम लोग स्वभावसे ही हिंसावृत्तिवाले है, क्रोध और हिंसा हमारा नित्यका व्यापार है, अतएव प्रजापतिने हमे इस दुष्कर्मसे छुडानेके लिये कृपा करके जीवमात्रपर दया करनेका ही उपदेश दिया है।' यह विचारकर वे जब चलनेको तैयार हुए तब प्रजापतिने यह सोचकर कि ये लोग मेरे उपदेशका अर्थ समझे या नहीं, उनसे पूछा 'तुम जा रहे हो, परन्तु बताओ, मैंने तुम्हे क्या करनेको कहा है ?' तब हिंसाप्रिय असुरोंने कहा 'देव! आपने हम हिंसकोंको 'द' कहकर प्राणिमात्रपर 'दया' करनेकी आज्ञा की है।' यह सुनकर प्रजापतिने कहा 'वत्स! तुमने ठीक समझा, मेरे कहनेका यही तात्पर्य था। अब तुम द्वेष छोड़कर प्राणिमात्रपर दया करना, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।'

देव दनुज मानव सभी लहै परम कल्यान।
पालै जो 'द' अर्थकौ दमन दया अरु दान॥

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी

(३१)

परम धन
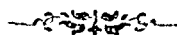
महर्षि याज्ञवल्क्यके दो स्त्रियॉ थी। एकका नाम था मैत्रेयी और दूसरीका कात्यायनी। दोनो ही सदाचारिणी और पतिव्रता थी परन्तु इन दोनोमे मैत्रेयी तो परमात्माके प्रति अनुरागिणी थी और कात्यायनीका मन संसारके भोगोमे रहता था। महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीको अपने पास बुलाकर कहा कि 'हे मैत्रेयी! मै अब इस गृहस्थाश्रमको छोड़कर संन्यास ग्रहण

करना चाहता हूँ। तुम दोनो मेरे पीछेसे आपसमे झगडा न कर सुखपूर्वक रह सको इसलिये मै चाहता हूँ कि तुम दोनोको घर-की सम्पत्ति आधी-आधी बॉट दूँ।'

स्वामीकी बात सुनकर मैत्रेयीने अपने मनमे सोचा कि 'मनुष्य अपने पासकी किसी वस्तुको तभी छोड़नेको तैयार होता है जब उसको पहलीकी अपेक्षा कोई अधिक उत्तम वस्तु प्राप्त होती है। महर्षि घरबारको छोडकर जा रहे है अतएव इनको भी कोई ऐसी वस्तु मिली होगी, जिसके सामने घर-बार सब तुच्छ हो जाते है, अवश्य ही इनके जानेमे कोई ऐसा बडा कारण होना चाहिये।' और वह परम वस्तु जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति लाभकर अमृतत्वको—परमात्माको पाना ही है। यो विचारकर मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! मुझे यदि धनधान्यसे परिपूर्ण समस्त पृथ्वी मिल जाय तो क्या उससे मै अमृतत्वको पा सकती हूँ? याज्ञवल्क्यने कहा—'नही, नही! धनसहित पृथ्वीकी प्राप्तिसे तेरा धनिकोका-सा जीवन हो सकता है परन्तु उससे अमृतत्व कभी नही मिल सकता!' मैत्रेयीने कहा—

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति॥ (बृह० २।४।३)

'जिससे मेरा मरना न छूटे, उस वस्तुको लेकर क्या करूँ? हे भगवन्! आप जो जानते है (जिस परम धनके सामने आपको यह घर-बार तुच्छ प्रतीत होता है और बड़ी प्रसन्नतासे आप सबका त्याग कर रहे है) वही परम धन मुझको बतलाइये।'

याज्ञवल्क्यने कहा—

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥
(बृह० २।४।४)

'मैत्रेयी ! पहले भी तू मुझे बड़ी प्यारी थी, तेरे इन वाक्योंसे वह प्रेम और भी बढ़ गया है। तू मेरे पास आकर बैठ, मैं तुझे अमृतत्वका उपदेश करूँगा। मेरी बातोंको भलीभाँति सुनकर उनका मनन कर !' इतना कहकर महर्षि याज्ञवल्क्यने प्रियतम-रूपसे आत्माका वर्णन आरम्भ किया। उन्होंने कहा—

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।

'मैत्रेयी ! (स्त्रीको) पति पतिके प्रयोजनके लिये प्रिय नहीं होता परन्तु आत्माके प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है।'

इस आत्मा शब्दका अर्थ लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है, कुछ कहते हैं कि आत्मासे यहाँपर शरीरका लक्ष्य है। यह शिश्नोदरपरायण पामर पुरुषोंका मत है। कुछ कहते हैं कि जब-तक अन्दर जीव है तभीतक संसार है, मरनेके बाद कुछ भी नहीं; इसलिये यहाँ इसी जीवका लक्ष्य है। यह पुनर्जन्म न माननेवाले जडवादियोंका मत है। कुछ लोग 'आत्माके लिये' का अर्थ करते हैं कि जिस वस्तु या जिस सम्बन्धीसे आत्माकी उन्नति हो, आत्मा अपने स्वरूपको पहचान सके वही प्रिय है।* इसीलिये कहा

---

* गोसाईं तुलसीदासजीने सम्भवतः ऐसे ही विचारको लक्ष्यमें रखकर भक्तकी दृष्टिसे कहा है कि—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥

गया है कि 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' यह तीव्र मुमुक्षु पुरुषोंका मत है।

कुछ तत्त्वज्ञोंका मत है कि आत्माके लिये इस अर्थमें कहा गया है कि इसमें आत्मतत्त्व है, यह आत्माकी एक मूर्ति है। मित्र-की मूर्तिको कोई उस मूर्तिके लिये नहीं चाहता परन्तु चाहता है मित्रके लिये। संसारकी समस्त वस्तुएँ इसीलिये प्रिय हैं कि उनमें केवल एक आत्मा ही व्यापक है या वे आत्माके ही स्वरूप हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति, न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति, न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति, न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति, न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु

तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषन बंधु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रजबनितन्हि भये मुद-मंगलकारी॥
नाते नेह रामको मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद एतो मतो हमारो॥

(विनयपत्रिका)

कामाय देवाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति, न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्व्वं विदितम् ॥

(बृह० २। ४। ५)

'अरे, स्त्री स्त्रीके लिये प्रिय नहीं होती परन्तु वह आत्माके लिये प्रिय होती है, पुत्र पुत्रोंके लिये प्रिय नहीं होते परन्तु वे आत्माके लिये होते है, धन धनके लिये प्यारा नहीं होता परन्तु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, ब्राह्मण ब्राह्मणके लिये प्रिय नहीं होता परन्तु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, क्षत्रिय क्षत्रियके लिये प्रिय नहीं होता परन्तु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, लोक लोकोंके लिये प्रिय नहीं होते परन्तु आत्माके लिये प्रिय होते है, देवता देवताओंके लिये प्रिय नहीं होते परन्तु आत्माके लिये प्रिय होते है, वेद वेदोंके लिये प्रिय नहीं है परन्तु आत्माके लिये प्रिय है, भूत भूतोंके लिये प्रिय नहीं है परन्तु आत्माके लिये प्रिय होते है, अरे मैत्रेयी ! सब कुछ उनके लिये ही प्रिय नहीं होते परन्तु सब आत्माके लिये ही प्रिय होते है। यह परम प्रेमका स्थान आत्मा ही वास्तवमे दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निरन्तर ध्यान करने योग्य है। हे मैत्रेयी ! इस आत्माके दर्शन-श्रवण-मनन और साक्षात्कारसे ही सब कुछ जाना जा सकता है।' यही ज्ञान है।

इसके पश्चात् महर्षि याज्ञवल्क्यजीने सबका आत्माके साथ अभिन्न रूप बतलाते हुए इन्द्रियोका अपने विषयोमें अधिष्ठान बतलाया और तदनन्तर ब्रह्मकी अखण्ड एकरस सत्ताका वर्णनकर अन्तमें कहा कि 'जबतक द्वैत भाव होता है तभीतक दूसरा दूसरेको देखता है; दूसरा दूसरेको सूँघता है; दूसरा दूसरेको सुनता है; दूसरा दूसरेसे बोलता है; दूसरा दूसरेके लिये विचार करता है और दूसरा दूसरेको जानता है, परन्तु जब सर्वात्मभाव प्राप्त होता है, जब समस्त वस्तुएँ आत्मा ही है ऐसी प्रतीति होती है तब वह किससे किसको देखे ? किससे किसको सूँघे ? किससे किसके साथ बोले ? किससे किसका स्पर्श करे तथा किससे किसको जाने ? जिससे वह इन समस्त वस्तुओको जानता है उसे वह किस तरह जाने ?'

वह आत्मा अग्राह्य है इससे उसका ग्रहण नहीं होता; वह अशीर्य है इससे वह शीर्ण नही होता; वह असङ्ग है इससे कभी आसक्त नही होता; वह बन्धनरहित है इससे कभी दुखी नही होता और उसका कभी नाश नहीं होता। ऐसे सर्वात्मरूप, सबके जाननेवाले आत्माको किस तरह जाने ? श्रुतिने इसीलिये उसे 'नेति' 'नेति' कहा है, वह आत्मा अनिर्वचनीय है। मैत्रेयी ! बस, तेरे लिये यही उपदेश है, यही तो मोक्ष है !

इतना कहकर याज्ञवल्क्यजीने संन्यास ले लिया और वैराग्यके प्रताप तथा ज्ञानकी उत्कट पिपासाके कारण स्वामीके उपदेशसे मैत्रेयी परम कल्याणको प्राप्त हुई ! (बृहदारण्यक-उपनिषद्के आधारपर)

(१२)

घोड़ेके सिरसे उपदेश

अश्विनीकुमार देवलोकके चिकित्सक है । इन्होने दैव-अथर्वण ऋषिके शिष्य दध्यङ् अथर्वण ऋषिसे वेदाध्ययन किया था । दध्यङ् ऋषि ब्रह्मज्ञानी थे परन्तु वैराग्यादि साधनोके अभावमे अश्विनी-कुमारोको अनधिकारी समझकर उन्हे ब्रह्मविद्याका उपदेश नही किया था । विद्याके अभिमानमे एक समय अश्विनीकुमारोंने इन्द्रका अपमान किया तब इन्द्रने इन्हे यज्ञभागसे बहिष्कृत कर दिया । तबसे इनको किसी भी यज्ञमे भाग मिलना बन्द हो गया । इन्होने नाराज होकर गुरु दध्यङ् ऋषिसे इन्द्रसे लड़कर उसे जीतने अथवा ओषधि आदिके द्वारा इन्द्रका विनाश करनेकी आज्ञा चाही । दध्यङ् ऋषि महान् पुरुष थे, उन्होने कामक्रोधादिकी निन्दा

करते हुए अश्विनीकुमारोंको अन्यान्य उपायोंसे सफलता प्राप्त करनेकी आज्ञा दी और यह कहा कि तुम लोग यदि हृदयके अभिमान कामक्रोधादि दोषोंसे रहित और वैराग्ययुक्त होकर मुझसे पूछोगे तो मैं तुम्हें अधिकारी पाकर दुर्लभ ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा। पश्चात् गुरुकी आज्ञासे अश्विनीकुमारोंने च्यवन ऋषिके नेत्र अच्छे कर दिये और च्यवनजीने अपने तपोबलसे उन्हें यज्ञमें अधिकार दिलवा दिया। इस प्रकार बिना ही लड़ाईके अश्विनीकुमारोंका मनोरथ सिद्ध हो गया।

एक समय इन्हीं दध्यङ् ऋषिके आश्रममें इन्द्र आया। अतिथिवत्सल ऋषिने इन्द्रसे कहा कि 'आप मेरे अतिथि हैं जो कुछ कहिये सो मैं करूँ।' इन्द्रने कहा 'मुझे ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये।' दध्यङ् ऋषि दुविधामें पड़ गये। वचन देकर नहीं करते हैं तो वाणी असत्य होती है, और उपदेशके योग्य अधिकारी इन्द्र है नहीं। आखिर उन्होंने वचनको सत्य रखनेके लिये उपदेश देनेका निश्चय किया, और भलीभाँति ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। उपदेश करते समय ऋषिने प्रसंगवश भोगोंकी निन्दा की, और भोगदृष्टिसे इन्द्रको और एक कुत्तेको एक-सा सिद्ध किया। इन्द्र ब्रह्मविद्याका अधिकारी तो था ही नहीं, स्वर्गादि भोगोंकी निन्दा सुनकर उसे क्रोध आ गया, और उसने दध्यङ् ऋषिपर कई तरह-से सन्देह करके निन्दा, शाप और हत्याके डरसे उन्हें मारनेकी इच्छा तो छोड़ दी परन्तु उनसे यह कहा कि यदि आप इस ब्रह्म-विद्याका उपदेश किसी दूसरेको करेंगे तो मैं उसी क्षण वज्रसे आपका सिर उतार लूँगा।'

क्षमाशील ऋषिने शान्तहृदयसे इन्द्रकी बात सुनकर बिना ही किसी क्षोभ या क्रोधसे उससे कहा, 'अच्छी बात है, हम किसीको उपदेश करें तब सिर उतार लेना।' इस बर्तावका इन्द्रपर प्रभाव पड़ा और वह शान्त होकर स्वर्गको लौट गया!

कुछ दिनो बाद अश्विनीकुमारोने वैराग्यादि साधनोसे सम्पन्न होकर ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये गुरुके चरणोमे उपस्थित होकर अपनी इच्छा जनायी और ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेके लिये प्रार्थना की। इसपर सत्यपरायण दध्यङ्ने सोचा कि 'इनको उपदेश न देनेसे मेरा वचन असत्य होगा और उपदेश करनेपर इन्द्र मेरा सिर उतार लेगा। वचन असत्य होनेकी अपेक्षा मर जाना उत्तम है। प्रतिज्ञा-भंग और असत्यका जो महान् दोष होता है उसके सामने मृत्यु क्या चीज है। शरीरका नाश तो एक दिन होगा ही।' यह विचारकर उन्होंने उपदेश देना निश्चय कर लिया और अश्विनीकुमारोंको इन्द्रके साथ जो बातचीत हुई थी वह कहकर सुना दी। अश्विनीकुमारोने पहले तो कहा कि 'भगवन्! आप हम लोगोको अब कैसे उपदेश देंगे। क्या आपको इन्द्रके वज्रसे मरनेका डर नहीं है?' परन्तु जब दध्यङ् ऋषिने कर्मवश शरीरधारीके मृत्युकी निश्चयता, परमार्थरूपसे निःसारता और सत्यकी श्रेष्ठता सिद्ध कर दी तब अश्विनीकुमारोने कहा, 'भगवन्! आप किञ्चित् भी भय न करें। हम एक कौशल करते है, जिससे न आपकी मृत्यु होगी और न हमे ब्रह्मविद्यासे वञ्चित होना पड़ेगा।

हम पृथक्-पृथक् हुए अंगोको जोड़कर जीवित करनेकी विद्या जानते हैं। पहले हम इस घोड़ेका सिर उतारते हैं, फिर आपका सिर उतार-कर इस घोड़ेकी धड़पर रख देते हैं और घोड़ेका सिर आपके धड़से जोड़ देते है। आप घोडेके सिरसे हमें ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये। फिर जब इन्द्र आकर आपका घोड़ेवाला सिर काट देगा तब हम पुनः उसका सिर उतारकर आपके धडसे जोड़ देंगे और इन्द्रके द्वारा काटा हुआ घोडेका सिर घोडेकी धड़से जोड़ देंगे। न घोडा ही मरेगा और न आपको ही कुछ होगा।' दध्यङ् ऋषि-ने इस प्रस्तावको स्वीकार करके उन्हे भलीभाँति ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। जब इन्द्रको इस बातका पता लगा तो इन्द्रने आकर वज्रसे दध्यङ् ऋषिके धड़से जोडा हुआ घोड़ेका सिर काट डाला। पश्चात् अश्विनीकुमारोने संजीवनी विद्याके प्रभावसे घोड़े-की धड़से जुडा हुआ ऋषिका सिर उतारकर उनकी धडसे जोड दिया और घोड़ेकी धडपर घोड़ेका सिर रखकर उसे जोड़ दिया। दोनो जीवित हो गये।

(तैत्तिरीय ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद्के आधारपर)

(१३)

सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ

एक समय प्रसिद्ध विदेह राजा जनकने बहुदक्षिण नामक बड़ा यज्ञ किया । यज्ञमे कुरु और पाञ्चाल आदि देशोके बहुत-से ब्राह्मण एकत्र हुए । जनक राजाने ब्राह्मणोको बहुत दक्षिणा दी; अन्तमें 'इन ब्राह्मणोमे सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता कौन है' यह जाननेकी इच्छासे जनक अपनी गोशालमेसे एक हजार गौएँ निकालकर प्रत्येक गायके दोनो सीगोमे दस-दस सोनेकी मुहरें बॉध दी और ब्राह्मणोसे कहा कि 'हे पूजनीय ब्राह्मणो ! आप लोगोंमें जो ब्रह्मिष्ठ हो, वे इन गायोको अपने घर ले जायँ ।' परन्तु किसी भी ब्राह्मणका उन्हे ले जानेका साहस नही हुआ । अन्तमे महर्षि याज्ञवल्क्यने अपने शिष्य ब्रह्मचारीसे कहा कि 'हे प्रियदर्शन ! हे सामश्रवा ! (सामवेदके अध्ययन करनेवाले) इन गायोको अपने घर ले चल ।' गुरुके इन वचनोको सुनकर शिष्य उन गौओको हॉककर गुरुके घरकी ओर ले जाने लगा । यह देखकर सभामे बैठे हुए ब्राह्मणोको इस बातपर बड़ा क्रोध हुआ कि 'हम लोगोके सामने 'मै ब्रह्मिष्ठ हूँ' ऐसा याज्ञवल्क्य कैसे कह सकता है ?'

महाराजा जनकके होता ऋत्विज् अश्वलने आगे बढकर याज्ञवल्क्यसे पूछा—

त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसि ।

'हे याज्ञवल्क्य ! क्या तुम्हीं हम सबमे ब्रह्मिष्ठ हो ?' यद्यपि ये शब्द अपमानजनक थे परन्तु याज्ञवल्क्यने इस उद्धतपनसे कुछ भी विकारको न प्राप्त होकर नम्रताके साथ उत्तर दिया—

नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्म ।

'भाई ! ब्रह्मिष्ठको तो हम नमस्कार करते है। हमें तो गौओ-की चाह है । इसीलिये हमने गौएँ ली है ।'

ब्रह्मनिष्ठाभिमानी अश्वल याज्ञवल्क्यको नीचा दिखानेके लिये उनसे एकके बाद एक बड़े-बड़े जटिल प्रश्न पूछने लगा । याज्ञवल्क्य सबका उत्तर तुरन्त ही देते गये । इसके बाद ऋतभाग-पुत्र आर्तभाग, लह्यपुत्र भुज्यु, चक्रपुत्र उशस्त, कुषीतकपुत्र कहोल, वचक्नुपुत्री गार्गी और अरुणपुत्र उद्दालकने कई गम्भीर प्रश्न किये और याज्ञवल्क्यसे तुरन्त उनका उत्तर पाया । सब ब्राह्मण थक गये, तब अन्तमे गार्गीने आगे बढ़कर सब ब्राह्मणोसे कहा, 'हे पूज्य ब्राह्मणो ! यदि आपकी अनुमति हो तो मै इस याज्ञवल्क्यसे दो प्रश्न फिर करना चाहती हूँ । यदि उन दो प्रश्नोका उत्तर यह दे सका तो फिर मै यह मान लूँगी कि आपमेसे कोई भी इस ब्रह्मवादीको नहीं जीत सकेगे ।' ब्राह्मणोने कहा 'गार्गी ! पूछ !'

गार्गीने गम्भीर स्वरसे कहा 'हे याज्ञवल्क्य ! जैसे वीरपुत्र

विदेहराज या काशिराज उतारी हुई डोरीके धनुषपर फिरसे डोरी चढ़ाकर शत्रुको अत्यन्त पीड़ा देनेवाले दो बाणोंको हाथमें लेकर शत्रुके सामने खड़ा होता है, इसी प्रकार मैं दो प्रश्नोंको लेकर तुम्हारे सामने खड़ी हूँ, तुम यदि ब्रह्मवेत्ता हो तो इन प्रश्नोंका उत्तर मुझे दो।' याज्ञवल्क्यने कहा 'गार्गी! पूछ।' गार्गी बोली—

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति॥ (बृह० ३।८।३)

'हे याज्ञवल्क्य! जो ब्रह्माण्डसे ऊपर है, जो ब्रह्माण्डसे नीचे है और जो इस स्वर्ग और पृथिवीके बीचमे स्थित है, तथा जो भूत, वर्तमान और भविष्यरूप है, ऐसा शास्त्र जाननेवाले लोग कहते हैं, वह 'सूत्रात्मा' (जगद्रूप सूत्र) किसमे ओतप्रोत है ?'

याज्ञवल्क्यने कहा—

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति॥ (बृह० ३।८।४)

'हे गार्गी! जो स्वर्गसे ऊपर है, जो पृथिवीसे नीचे है और जो स्वर्ग और पृथिवीके बीचमे स्थित है, तथा जो भूत, वर्तमान और भविष्यरूप है ऐसा शास्त्रवेत्तागण कहते है वह व्याकृत (विकृतिको प्राप्त कार्यरूप स्थूल) जगद्रूप सूत्र अन्तर्यामीरूप आकाशमे ओतप्रोत है!' इस उत्तरको सुनकर गार्गीने कहा 'हे याज्ञवल्क्य! तुमने मेरे इस प्रश्नका ऐसा स्पष्ट उत्तर दिया,

इसके लिये तुम्हें नमस्कार है । अब दूसरे प्रश्नके लिये तैयार हो जाओ !' याज्ञवल्क्यने सरलतासे कहा 'गार्गी ! पूछ ।'

गार्गीने एक बार उसी प्रश्नोत्तरको फिरसे दोहराकर याज्ञवल्क्य-से कहा—

कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ।

'हे याज्ञवल्क्य ! तुम कहते हो व्याकृत जगद्रूप सूत्रात्मा तीनो कालोमे सर्वदा अन्तर्यामीरूप आकाशमे ओतप्रोत है' तो वह आकाश किसमे ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्यने कहा—

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्य-स्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वना-काशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कम-प्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन ॥ (बृह० ३ । ८ । ८)

'हे गार्गी ! अन्तर्यामीरूप अव्याकृतका अधिष्ठान यही वह अक्षर है, इस अविनाशी शुद्ध ब्रह्मका वर्णन ब्रह्मवेत्तागण इस प्रकार करते है—यह स्थूलसे भिन्न, सूक्ष्मसे भिन्न, ह्रस्वसे भिन्न, दीर्घ-से भिन्न, लोहितसे भिन्न, स्नेहसे (चिकनाहटसे) भिन्न, प्रकाश-से भिन्न, अन्धकारसे भिन्न, वायुसे भिन्न, आकाशसे भिन्न, संग-रहित, रसरहित, गन्धरहित, चक्षुरहित, श्रोत्ररहित, वाणीरहित, मनरहित, तेजरहित, प्राणरहित, मुखरहित, परिमाणरहित, छिद्ररहित, और देश, काल, वस्तु आदि परिच्छेदसे रहित सर्व-

व्यापी अपरिच्छिन्न है, वह कुछ भी खाता नही और उसे भी कोई खाता नही, इस प्रकार वह सब विशेषणोसे रहित एक ही अद्वितीय है ।

इस प्रकार समस्त विशेषणोका ब्रह्ममें निषेध करके अब उसका नियन्तापन बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते है—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः । एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति । एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमनु। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥ (बृह० ३ । ८ । ९)

हे गार्गी ! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञामें सूर्य और चन्द्रमा यह नियमितरूपसे वर्तते है । हे गार्गी ! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञासे ही स्वर्ग और पृथिवी हाथमे रक्खे हुए पाषाणकी तरह मर्यादामें रहते है । हे गार्गी ! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञामें रहकर ही निमेष, मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, और संवत्सर इस कालके अवयवोकी गणना करनेवाले सेवककी तरह नियमितरूपसे आते-जाते है । हे गार्गी ! इस प्रसिद्ध अक्षरके शासनमें रहकर ही पूर्ववाहिनी गङ्गा आदि नदियाँ श्वेत हिमालय आदि पहाड़ोमेंसे निकलकर समुद्रकी ओर बहती है तथा पश्चिमवाहिनी सिन्धु आदि और अन्यान्य दिशाओकी ओर बहती हुई दूसरी

नदियाँ इसी अक्षरके नियन्त्रणमें आजतक वैसे ही बहती हैं। हे गार्गी ! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञासे मनुष्य दाताओंकी प्रशंसा करते हैं और इन्द्रादि देवगण, यजमान और पितृगण दर्वीके अनुगत हैं अर्थात् देवता यजमानद्वारा किये हुए यज्ञसे और पितृगण उनके लिये किये जानेवाले होममे घी डालनेकी चमचीसे यानी उस होमसे पुष्ट होते हैं।

इसके बाद याज्ञवल्क्य फिर बोले—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति। यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः। (बृह० ३ । ८ । १०)

हे गार्गी ! इस अक्षरको बिना जाने यदि कोई पुरुष इस लोकमे हजारो वर्षोंतक देवताओंको उद्देश्य करके यज्ञ करता है, व्रतादि तप करता है तो भी उस कर्मका फल तो अन्तवाला ही होता है। अर्थात् फल देकर वह कर्म नष्ट हो जाता है, वह अक्षय परम कल्याणको प्राप्त नहीं होता।*

---

* अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥
(गीता ७ । २३)

परमात्माको न जाननेवाले उन अल्पबुद्धिजनोंका वह फल नाशवान् है और वे (भेदभावसे) देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं (परन्तु) मेरे (भगवान्‌के) भक्त (किसी प्रकारसे भी भजनेवाले अन्तमें) मुझको (भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं।)

हे गार्गी ! जो पुरुष इस अक्षरको नहीं जानकर (भगवत्प्राप्ति होनेसे पूर्व ही) इस लोकसे मृत्युको प्राप्त होता है वह (विचारा) कृपण (दीन, दयाके योग्य) है और हे गार्गी ! जो इस अक्षरको जानकर इस लोकमे मरणको प्राप्त होता है वह ब्राह्मण (ब्रह्मविद्, मुक्त) हो जाता है । अब याज्ञवल्क्य ब्रह्मका उपाधिरहित स्वरूप बतलाते हुए कहते है—

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । (बृह० ३ । ८ । ११)

हे गार्गी ! यह प्रसिद्ध अक्षर किसीको नही दीखता पर यह सबको देखता है । इसकी आवाज कानोसे कोई नही सुन सकता परन्तु यह सबकी सुनता है । यह किसीकी धारणामे नही आता परन्तु यही सबका मन्ता है । कोई इसे बुद्धिसे नही जान सकता परन्तु यही सबका विज्ञाता (जाननेवाला) है । इससे भिन्न द्रष्टा नही है, इससे भिन्न श्रोता नही है, इससे भिन्न कोई मन्ता नही है और इससे भिन्न कोई विज्ञाता नही है । हे गार्गी ! वह अव्याकृत आकाश इसी प्रसिद्ध अक्षर अविनाशी ब्रह्मपे ही ओतप्रोत है ।*

---

* मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(गीता ७ । ७)

'भगवान् कहते हैं, हे अर्जुन ! मेरे सिवा किञ्चित् भी दूसरी वस्तु नहीं

महर्षि याज्ञवल्क्यके इस विलक्षण व्याख्यानको सुनकर गार्गी सन्तुष्ट हो गयी और प्रमुदित होकर ब्राह्मणोंसे कहने लगी कि, 'हे पूज्य ब्राह्मणो ! याज्ञवल्क्यको नमस्कार करो । ब्रह्मसंबंधी विवादमे इसको कोई भी नही हरा सकता । इसका पराजय मनकी कल्पनामे भी नहीं आ सकता ।' इतना कहकर गार्गी चुप हो गयी ।

इसके बाद शकलके पुत्र शाकल्य या विदग्धने याज्ञवल्क्यसे कई इधर-उधरके प्रश्न किये । अन्तमें याज्ञवल्क्यने उससे कहा कि अब मै तुझसे एक बात पूछता हूँ, तू यदि उसका उत्तर नहीं दे सकेगा तो तेरा मस्तक कट जायगा । शाकल्य उत्तर नहीं दे सका और उसका मस्तक धड़से अलग हो गया । याज्ञवल्क्यके ज्ञान और तेजको देखकर सारी सभा चकित हो गयी । तदनन्तर याज्ञवल्क्य-ने फिर ब्राह्मणोसे कहा, 'तुम लोगोमेसे कोई एक या सब मिलकर मुझसे कुछ पूछना हो तो पूछे' परन्तु किसीने कुछ भी नही पूछा । चारो ओर याज्ञवल्क्यकी जयध्वनि होने लगी । विज्ञानानन्दसे याज्ञवल्क्य और गार्गीका चेहरा चमक रहा था !

इसी ब्रह्मको यथार्थरूपसे जाननेकी चेष्टा करना और अन्तमे जान लेना मनुष्य-जन्मकी सफलताका एकमात्र प्रमाण है ।

(बृहदारण्यकोपनिषद्के आधारपर)

है यह सम्पूर्ण जगत् सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति मुझमें ही गुँथा हुआ है ।' जो भगवान्को इसप्रकार जानता है वही मुक्त होता है ।

(१४)

सद्गुरुकी शिक्षा

वेदका अध्ययन कर चुकनेपर गुरु अपने शिष्यको नीचे लिखे वेद धर्मोका उपदेश करते हैं—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

(तैत्ति० उप० १। ११। १)

सत्य बोलो। धर्मका आचरण करो। स्वाध्यायका कभी त्याग न करो। आचार्यको गुरु दक्षिणा देकर प्रजाके सूत्रको न काटो अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रमका पालन कर चुकनेपर गृहस्थाश्रममे प्रवेश करो। सत्यका कभी किसी अवस्थामे भी त्याग न करो। धर्मका कभी त्याग न करो। कल्याणकारी कर्मोका त्याग न करो, साधनकी जो विभूति प्राप्त है, उसे कभी मत त्यागो। स्वाध्याय और प्रवचनमे कभी प्रमाद न करो।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथि-देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। (तैत्ति० उप० १। ११। २)

देव कर्म (यज्ञ) और पितृकर्म (श्राद्ध तर्पण आदि) का कभी त्याग न करो। माताको देवरूपसे पूजो। पिताको देवरूपसे पूजो। आचार्यको देवरूपसे पूजो। अतिथिको देवरूपसे पूजो। जो कर्म निन्दारहित हैं उन्हींको करो। अन्य (निन्दितकर्म) मत करो। हमारे (गुरुके) श्रेष्ठ आचरणोंका अनुसरण करो, दूसरोंका नहीं।

जो ब्राह्मण अपनेसे श्रेष्ठ हों उन्हें तुरन्त बैठनेके लिये आसन दो। जो कुछ दान करो श्रद्धासे करो, अश्रद्धासे नहीं। श्रीके लिये दान करो, (लक्ष्मी चञ्चल हैं, प्रभुकी सेवामें उसे समर्पण नहीं करोगे तो वह तुम्हें त्यागकर चली जायगी), लोक-लाजके लिये ही दान करो। शास्त्रसे डरकर भी दान करो, दान करना उचित है इस विवेकसे दान करो। अपने किसी कर्म अथवा लौकिक आचारके सम्बन्धमें मनमें कोई शंका उठे तो, अपने समीप रहनेवाले ब्राह्मणोंमें जो वेदविहित कर्मोंमें विचारशील हों, समदर्शी हों, कुशल हों, स्वतन्त्र हों (किसीके दबावमें आकर व्यवस्था देनेवाले न हों), क्रोधरहित अथवा शान्त स्वभाव हों, और धर्मके लिये ही कर्तव्य पालन करनेवाले हों, वे जिस प्रकारका आचरण करें, उसी प्रकारका आचरण तुम करो। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेदोंका भाव है, यही आज्ञा है, ऊपर बतलायी हुई प्रणालीसे ही आचरण करने चाहिये। इसी प्रकार आचरण करना चाहिये।

(तैत्तिरीय उपनिषद्)

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुर

की

पुस्तकों और चित्रोंकी

सूची

माघ १९९२
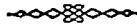
मिलनेका पता—

गीताप्रेस, गोरखपुर

कुछ ध्यान देने योग्य बातें—

(१) हर एक पत्रमें नाम, पता, डाकघर, जिला बहुत साफ देवनागरी अक्षरोंमें लिखें। नहीं तो जवाब देने या माल भेजनेमें बहुत दिक्कत होगी। साथ ही उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिये।

(२) अगर ज्यादा किताबें मालगाड़ी या पार्सलसे मँगानी हों तो रेलवे स्टेशनका नाम जरूर लिखना चाहिये। आर्डरके साथ कुछ दाम पेशगी भेजने चाहिये।

(३) थोड़ी पुस्तकोंपर डाकखर्च अधिक पड़ जानेके भयसे एक रुपयेसे कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती, इससे कमकी किताबोंकी कीमत, डाकमहसूल और रजिस्ट्री-खर्च जोड़कर टिकट भेजें।

(४) एक रुपयेसे कमकी पुस्तकें बुकपोस्टसे मँगवानेवाले सज्जन ।) तथा रजिस्ट्रीसे मँगवानेवाले ।=) (पुस्तकोंके मूल्यसे) अधिक भेजें। बुकपोस्टका पैकेट प्रायः गुम हो जाया करता है; अतः इस प्रकार खोयी हुई पुस्तकोंके लिये हम जिम्मेवार नहीं हैं।

कमीशन-नियम

समान व्यवहारके नाते छोटे-बड़े सभी ग्राहकोंको कमीशन एक चौथाई दिया जायगा। ३०) की पुस्तकें लेनेसे ग्राहकोंके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री-डिलीवरी दी जायगी। परन्तु थोड़ी अन्य प्रकारकी पुस्तकें भी लेनी होंगी, केवल गीता नहीं। ३०) की पुस्तकें लेनेवाले सज्जनोंमेंसे यदि कोई जल्दीके कारण रेलपार्सलसे पुस्तकें मँगवावेंगे तो उनको केवल आधा महसूल बाद दिया जायगा। फ्री-डिलीवरीमें बिल्टीपर लगनेवाला डाकखर्च, रजिस्ट्रीखर्च, मनीआर्डरकी फीस या बैंकचार्ज शामिल नहीं होंगे, ग्राहकोंको अलग देने होंगे। नवीन रेटके अनुसार चित्रोंके दाम कम हो जानेके कारण पुस्तकोंके साथ चित्रोंकी फ्री-डिलीवरी नहीं दी जायगी। पुस्तकोंके साथ चित्र मँगाने-वालोंको चित्रोंके कारण जो विशेष भाड़ा लगेगा वह देना होगा।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-सूची

श्रीमद्भगवद्गीता-[श्रीशांकरभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढने और समझनेमे सुगमता कर दी गयी है। श्रुति, स्मृति, इतिहासोंके उद्धृत प्रमाणोंका सरल अर्थ है। पृष्ठ ५१९, ३ चित्र, मू० २॥), बढ़िया जिल्द ... ... २॥।)

श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्ति-सहित, मोटा टाइप, कपडेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, बहुरंगे ४ चित्र, मू० १।)

श्रीमद्भगवद्गीता-गुजराती टीका, गीता नम्बर दोकी तरह, मू० ... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता-मराठी टीका, हिन्दीकी १।) वालीके समान, मूल्य १।)

श्रीमद्भगवद्गीता-प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मूल्य ॥≡), सजिल्द ... ॥।=)

श्रीमद्भगवद्गीता-बंगला टीका, गीता नं० ५ की तरह। मू० ... ।।।)

श्रीमद्भगवद्गीता-श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, साइज मझोला, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ॥), स० ... ॥≡)

गीता-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, मूल्य ।-), सजिल्द ... ।≡)

गीता-साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सभी विषय ॥) वालीके समान, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य ≈)॥, सजिल्द ... ≡)॥

गीता-भाषा, इसमें श्लोक नही है। अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, मू० ।), स० ।≈)

गीता-मूल ताबीजी, साइज २ × २॥ इञ्च, सजिल्द, मू० ... =)

गीता-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द, मू० ... =)

गीता-७॥ × १० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, मू० ... -)

गीता-डायरी-सन् १९३६ की, मू० ।) सजिल्द ... ... ।-)

गीता-सूची (Gita-List)—संसारकी (भिन्न-भिन्न ३१ भाषाओंकी) अनुमान २००० गीताओंका परिचय, मूल्य ॥)

पता-गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीविष्णुपुराण—हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, एक तरफ श्लोक और उनके सामने ही अर्थ है, पृष्ठ ५४८, मूल्य २॥), कपड़ेकी जिल्द ... ... २॥।)

अध्यात्मरामायण—सटीक, ८ चित्र, एक तरफ श्लोक और उनके सामने ही अर्थ है, दूसरा संस्करण छप गया है। मू० १॥।), स० २)

प्रेम-योग—सचित्र, लेखक—श्रीवियोगी हरिजी, पृष्ठ ४२०, बहुत मोटा एण्टिक कागज, मूल्य अजिल्द १।), सजिल्द ... १॥)

श्रीतुकाराम-चरित्र—९ चित्र, पृष्ठ ६९४, मूल्य १≡) सजिल्द ... १॥)

श्रीकृष्ण-विज्ञान—श्रीमद्भगवद्गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद। दो चित्र, पृष्ठ २७५, मोटा कागज, मू० ॥।), स० १)

विनय-पत्रिका—सरल हिन्दी-भावार्थ-सहित, ६ चित्र, अनु०—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, दूसरा संस्करण, भावार्थमें अनेकों आवश्यक संशोधन किये गये हैं तथा परिशिष्टमें कथाभागके ३७ पृष्ठ और जोड़ देनेपर भी मूल्य १), सजिल्द १।)

गीतावली—सटीक अनु०—श्रीमुनिलालजी, इसमें रामायणकी तरह सात काण्डोंमें श्रीरामचन्द्रजीकी लीलाओंका भजनोंमें बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। पृष्ठ ४६०, ८ चित्र, मू० १) सजिल्द १।)

भागवतरत्न प्रह्लाद—३ रंगीन, ५ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ ३४०, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, मूल्य १) सजिल्द ... १।)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १)—सचित्र, श्रीचैतन्यदेवकी बड़ी जीवनी। पृष्ठ ३६०, मू० ॥।≡), सजिल्द १≡)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड २)—सचित्र, पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ। पृष्ठ ४५०, ९ चित्र, मूल्य १≡), सजिल्द १।≡)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ३)—पृष्ठ ३८४, ११ चित्र, मूल्य १), सजिल्द १।)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ४)—पृष्ठ २२४, १४ चित्र, मूल्य ॥≡), सजिल्द ॥।≡)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली(खण्ड ५)-पृष्ठ २८०, १० चित्र, मू०।।।)स० १)

मुमुक्षुसर्वस्वसार-भाषासहित, पृष्ठ ४१४, मूल्य ।।।-), सजिल्द १-)

श्रीमद्भागवतान्तर्गत एकादश स्कन्ध-यह स्कन्ध बहुत ही उपदेश-पूर्ण है, सचित्र, सटीक, पृष्ठ ४२०, मूल्य केवल ।।।), स० १)

देवर्षि नारद-२ रंगीन, ३ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ २४०, सुन्दर छपाई, मूल्य ।।।), सजिल्द ... ... १)

तत्त्व-चिन्तामणि भाग १-सचित्र, ले०-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, इसके मननसे धर्ममें श्रद्धा, भगवान्‌में प्रेम और विश्वास एवं नित्यके बर्तावमें सत्य व्यवहार और सबसे प्रेम एवं शान्तिकी प्राप्ति होती है। पृष्ठ ३५०, मूल्य ।।=), स० ।।।-)

तत्त्व-चिन्तामणि (भाग १)-छोटे आकारका संस्करण लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, सचित्र, पृष्ठ ४४८, मू० ।-) सजिल्द ।=)

तत्त्व-चिन्तामणि भाग २-सचित्र, इसमें लोक और परलोकके सुख-साधनकी राह बतानेवाले सुविचारपूर्ण सुन्दर-सुन्दर लेखोंका अति उत्तम संग्रह है। पृष्ठ ६३२ मूल्य ।।।=) सजिल्द ... १=)

इस २रे भागका भी छोटे आकारका संस्करण छप रहा है, शीघ्र प्रकाशित होगा।

नैवेद्य-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके २८ लेख और ६ कविताओंका सचित्र नया सुन्दर ग्रन्थ, पृ० ३५०, मू० ।।=), स० ... ।।।-)

श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र-दक्षिणके प्रसिद्ध, सबसे अधिक प्रभावशाली भक्त ('श्रीज्ञानेश्वरी गीता' के कर्ता) की जीवनदायिनी जीवनी और उनके उपदेशोंका नमूना। सचित्र, पृष्ठ ३५६, मू० ।।।-)

शरणागतिरहस्य-सचित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ।।≡)

विष्णुसहस्रनाम-शांकरभाष्य हिन्दी-टीका-सहित, सचित्र; भाष्यके सामने ही उसका अर्थ छापा गया है। पृष्ठ २७५, मूल्य ।।=)

आनन्दमार्ग-सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ।।-)

श्रुतिरत्नावली-लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी, एक पेजमें मूल श्रुतियाँ और उसके सामनेके पेजमें उनके अर्थ हैं, पृष्ठ २८४, मू० ।।)

स्तोत्ररत्नावली-हिन्दी-अनुवादसहित, सचित्र, मूल्य ... ।।)

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

तुलसीदल—लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, इसमें छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, आस्तिक-नास्तिक, विद्वान्-मूर्ख, भक्त-ज्ञानी, गृहस्थी-त्यागी, कला और साहित्य-प्रेमी सबके लिये कुछ-न-कुछ उन्नतिका मार्ग मिल सकता है। पृष्ठ २९२, सचित्र, मू० ॥), स०॥=)

श्रीएकनाथ-चरित्र—ले०—हरिभक्तिपरायण पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, भाषान्तरकार—पं० श्रीलक्ष्मण नारायण गर्दे। हिन्दी-में एकनाथ महाराजकी जीवनी अभीतक नहीं देखी, मूल्य ... ॥)

दिनचर्या—(सचित्र) उठनेसे सोनेतक करनेयोग्य धार्मिक बातोंका वर्णन। नित्य-पाठके योग्य स्तोत्र और भजनोंसहित। मूल्य ॥)

विवेक-चूडामणि—(सानुवाद, सचित्र) पृष्ठ २२४, मू० ।=), स० ॥=)

श्रीरामकृष्ण परमहंस—(सचित्र) इस ग्रन्थमें इन्हींके जीवन और ज्ञानभरे उपदेशोंका संग्रह है। पृ० २५०, मूल्य ... ।=)

ईशावास्योपनिषद्—सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित. सचित्र, पृष्ठ ५०, मू० =)

केनोपनिषद्—सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४६, मूल्य ॥)

कठोपनिषद्—सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७२, मूल्य ॥-)

मुण्डकोपनिषद्—सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२२, मू० ।=)

प्रश्नोपनिषद्—सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र. पृष्ठ १३०, मूल्य ।=)

उपरोक्त पाँचो उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड १) मूल्य २।-)

माण्डूक्योपनिषद् भी छप रहा है।

भक्त-भारती—७ चित्र, कवितामें ७ भक्तोंकी सरल कथाएँ, मू० ।=)

भक्त बालक—गोविन्द, मोहन आदि बालकभक्तोंकी कथाएँ हैं, मू० ।-)

भक्त नारी—स्त्रियोंमें धार्मिक भाव बढ़ानेके लिये बहुत उपयोगी कथाएँ हैं।-)

भक्तपञ्चरत्न—यह पाँच कथाओंकी पुस्तक सद्गृहस्थोंके लिये बड़े कामकी है।-)

आदर्श भक्त—राजा शिवि, रन्तिदेव, अम्बरीष आदिकी कथाएँ, ७चित्र, मू०।-)

भक्त-चन्द्रिका—भगवान्के प्यारे भक्तोंकी मीठी-मीठी बातें, ७चित्र, मू०।-)

भक्त-सप्तरत्न—सात भक्तोंकी मनोहर गाथाएँ, ७ चित्र, पृष्ठ १०६, मू० ।-)

भक्त-कुसुम—छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष सबके पढ़ने योग्य प्रेमभक्तिपूर्ण ग्रन्थ ।-)

शतश्लोकी-हिन्दी-
अनुवादसहित मू० =)
चित्रकूटकी झाँकी =)
भजन-संग्रह प्र० भा० =)
,, द्वितीय भाग =)
,, तृतीय भाग =)
,, चतुर्थ भाग =)
,, पञ्चम भाग =)
स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी =)
सच्चा सुख और उसकी
प्राप्तिके उपाय -)॥
गीतोक्त सांख्ययोग
और निष्काम
कर्मयोग -)॥
मनुस्मृति द्वितीय
अध्याय अर्थसहित -)॥
गोपी-प्रेम सचित्र,
पृष्ठ ५०, मूल्य -)॥
हनुमानबाहुक सचित्र
सटीक -)॥
आनन्दकी लहरें
सचित्र, मू० -)॥

विष्णुसहस्रनाम मूल
मू०)॥, स० -)॥
गोविन्द-दामोदर-
स्तोत्र (सार्थ) पृष्ठ
३७, मू० -)॥
ईश्वर-मूल्य -)।
मूलरामायण -)।
मूल गोसाईं-चरित -)।
गीताका सूक्ष्म
विषय -)।
मनको वश करनेके
उपाय, सचित्र -)।
सप्त-महाव्रत -)
समाज-सुधार -)
ब्रह्मचर्य -)
श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश -)
भगवान् क्या हैं ? -)
आचार्यके सदुपदेश -)
एक संतका अनुभव -)
त्यागसे भगवत्प्राप्ति -)
रामगीता सटीक)॥।
हरेरामभजन २ माला)॥।
,, १४ माला ।-)

सन्ध्या हिन्दी-
विधिसहित)॥
बलिवैश्वदेवविधि)॥
प्रश्नोत्तरी सटीक)॥
सेवाके मन्त्र)॥
सीतारामभजन)॥
श्रीहरिसंकीर्तनधुन)।
गीता द्वितीय
अध्याय सटीक)।
पातञ्जलयोगदर्शन
मूल)।
धर्म क्या है ?)।
दिव्य सन्देश)।
कल्याण-भावना)।
नारद-भक्ति-सूत्र
(सार्थ गुटका))।
लोभमें पाप आधा पैसा
गजलगीता ,,
सप्तश्लोकी गीता ,,
रामायणांक २॥=)

चित्र-सूची

सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र।

सभी चित्र बढिया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए है।

इतने बड़े रंगीन चित्र हिन्दुस्तानके छपे हुए प्रायः बहुत कम मिलते है। प्रचारकी दृष्टिसे दाम बहुत ही सस्ते रखे गये है।

सुनहरी—नेट दाम प्रत्येकका -)॥

युगलछबि

रंगीन—नेट दाम प्रत्येकका -)

श्रीराधेश्याम
श्रीनन्दनन्दन
गोपियोंकी योगधारणा
श्रीवृन्दावनविहारी
श्रीविश्वविमोहन
भगवान् श्रीकृष्णरूपमे
श्रीव्रजराज
श्रीकृष्णार्जुन
चारो भैया
राम-रावण-युद्ध
रामदरबार
श्रीरामचतुष्टय
लक्ष्मीनारायण
श्रीविष्णुभगवान्
श्रीलक्ष्मीजी
कमला
सावित्री-ब्रह्मा
श्रीविश्वनाथजी
श्रीशिवपरिवार
शिव-बरात
शिव-परिछन
शिव-विवाह
प्रदोषनृत्य
श्रीजगज्जननी उमा
श्रीध्रुव-नारायण
श्रीमहावीरजी
श्रीचैतन्यका संकीर्तन-दल
महासंकीर्तन
नवधा भक्ति
जडयोग

१२ चित्रोतक मँगानेपर पैकिगमे चोगा लगाना पडता है, जिससे डाकखर्च बढ जाता है। सोचकर मँगाना चाहिये। अधिक मँगानेमे ही डाकखर्चका सुभीता है।

कागज-साइज १०×१५ इञ्च

(छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बडे कागजपर बार्डर लगाकर छापे है)

सुनहरी चित्र, नेट दाम)॥ प्रतिचित्र

युगलछबि
तन्मयता

भगवान् अग्निरूपमे	ज्ञानयोगी शुकदेव
भगवान् शक्तिरूपमे	भीष्मपितामह
महागौरी	अजामिल-उद्धार
महाकाली	सुआ पढ़ावत गणिका तारी
महासरस्वती	शंकरके ध्येय बाल श्रीकृष्ण
महालक्ष्मी (चतुर्भुजी)	संकीर्तनयोगी श्रीचैतन्य महाप्रभु
श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी (अष्टादशभुजी)	निमाई-निताई
नारीशक्ति	श्रीचैतन्यका सकीर्तन-दल
देवी कात्यायनी	प्रेमी भक्त सूरदासजी
देवी कालिका	गोस्वामी तुलसीदासजी
देवी कूष्माण्डा	मीरा (कीर्तन)
देवी चन्द्रघण्टा	मीराबाई (जहरका प्याला)
देवी सिद्धिदात्री	प्रेमयोगिनी मीरा
राजा सुरथ और समाधि वैश्यको देवीका दर्शन	प्रेमी भक्त रसखान
षोडश माता	गोलोकमे नरसी मेहता
समुद्रमथन	नवधा भक्ति
महासकीर्तन	जडयोग
ध्यानयोगी ध्रुव	सप्तज्ञानभूमिका
ज्ञानयोगी राजा जनक	ऋषि-आश्रम

एकरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरु-सेवा	कर नवनीत लिये
	महात्मा सूरदासजी

कागज-साइज ५×७।। इञ्च

बहुरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

श्रीविष्णु	श्रीरामचतुष्टय
शेषशायी	विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
सदाप्रसन्न राम	वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
कमललोचन राम	आनन्दकन्द श्रीकृष्ण
दूल्हा राम	गोपीकुमार
श्रीसीताराम	व्रज-नव-युवराज
श्रीराम-विभीषण-मिलन (भुज विशाल गहि)	रामदरबार
	देवसेनापति कुमार कार्तिकेय

ब्रजराज
श्यामसुन्दर
खेल-खिलाडी
ब्रह्माका मोह
युगल छवि
श्रीराधेश्याम
भगवान् और उनकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी
नन्दनन्दन
सुदामा और श्रीकृष्णका प्रेममिलन
अर्जुनको गीताका उपदेश
अर्जुनको चतुर्भुजरूपका दर्शन
भक्त अर्जुन और उनके सारथि श्रीकृष्ण
परीक्षितकी रक्षा
सदाशिव
शिवपरिवार
चन्द्रशेखर
कमला
भुवनेश्वरी
श्रीजगन्नाथजी
यम-नचिकेता
ध्रुव-नारायण
पाठशालामें प्रह्लादका बालकोंको राम-राम जपनेका उपदेश
समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
भगवान् नृसिंहकी गोदमें प्रह्लाद
पवन-कुमार
भगवान्की गोदमें भक्त चक्रिक
शंकरके ध्येय बालकृष्ण
श्रीश्रीचैतन्य
चैतन्यका अपूर्व त्याग
भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं
गोविन्दके साथ गोविन्द खेल रहे है
भक्त गोपाल चरवाहा
मीराबाई (कीर्तन)
भक्त जनाबाई और भगवान्
भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
भक्त बालीग्रामदास
भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
भक्त गोविन्ददास
भक्त मोहन और गोपाल भाई
परमेष्ठी दर्जी
भक्त जयदेवका गीतगोविन्द-गान
ऋषि-आश्रम
श्रीविष्णु भगवान्
कमलापतिस्वागत

चित्रोंके दाम

चित्र बेचनेके नियमोंमें परिवर्तन हो गया। दाम प्रायः बहुत घटा दिये गये हैं।

साइज और रंग

१५×२०, सुनहरी	-)॥	७॥×१०, सुनहरी	)।३
१५×२०, रंगीन	-)	७॥×१०, रंगीन	)।
१०×१५, सुनहरी	)॥	७॥×१०, सादा	१) सै०
१०×१५, रंगीन	)।३	५×७॥, रंगीन	१) सै०

१५×२० साइज़के सुनहरे और रंगीन २१ चित्रोंके सेट-की नेट कीमत १।।।≡)।। पैकिङ्ग -)॥ डाकखर्च ॥≡) कुल लागत २।।।) लिये जायँगे।

१०×१५ साइज़के सुनहरे और रंगीन २१ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ॥≡)।।।‌ पैकिङ्ग -)।।।‌ डाकखर्च ॥-)। कुल १।≡) लिये जायँगे।

७॥×१० साइज़के सुनहरे, और रंगीन १७४ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत २।।।)॥ पैकिङ्ग =) डाकखर्च ।।।-)। कुल ३।।।) लिये जायँगे।

५×७॥ साइज़के रंगीन ६० चित्रोंका नेट दाम ॥-)।।। पैकिङ्ग -)॥ डाकखर्च ।-)।।। कुल १-) लिये जायँगे।

१५×२०, १०×१५, ७॥×१०, ५×७॥ के चारों सेटकी नेट कीमत ६-)।।। पैकिङ्ग =)।डाकखर्च १।।≡)कुल७।।≡)लिये जायँगे।

नियम

(१) चित्रका नाम जिस साइज़में दिया हुआ है वह उसी साइज़में मिलेगा, आर्डर देते समय देख लें। समझकर मँगवावें। (२) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये जितना किराया अधिक लगेगा वह ग्राहकोंके जिम्मे होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें। (३) ६०) के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलेवरी दी जायगी। रजिस्ट्री वी० पी० खर्चा ग्राहकको देना होगा। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण' के साथ भी चित्र नहीं भेजे जाते।

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करती है। जिल्दका दाम १५×२० का ।।।), १०×१५ का ।=), ७॥×१० का ॥), ५×७॥ का ≤) और लिया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।

सानुवाद-सचित्र

मूल्य ॥)

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

वर्तमान शिक्षा

हनुमानप्रसाद पोद्दार

वर्तमान शिक्षा

हनुमानप्रसाद पोद्दार

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९३
प्रथम संस्करण ५२५०
मूल्य ~) एक आना

पता—
गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

वर्तमान शिक्षा

वर्तमान शिक्षित नवयुवकोके आचरणो और कार्योंको देखकर दुखी हुए कितने ही सज्जनोने मुझसे इस विषयपर कुछ लिखनेके लिये अनुरोध किया है; इनमें कई सज्जन तो स्वयं भुक्तभोगी है, लड़के-लड़कियोके पढ़नेमें गाढ़ी कमायीका पैसा खर्च करके आज वे उनको दूसरे ही ढाँचेमे ढले देखकर दुखी हो रहे है। अपने शिक्षित पुत्र-कन्याओका जीवन विलासी, खर्चीला, अकर्मण्य और धर्मशून्य देखकर वे बेचारे मर्माहत होकर कई बातें पूछते है। उनके समाधानके लिये यथासाध्य कुछ बातें उन्हे लिख दी जाती है परन्तु यह रोग तो अब इतना व्यापक हो गया है कि जो छूटना असम्भव-सा जान पड़ता है। गुण-दोप सभी कार्योंमे होते है। इस न्यायसे इस शिक्षामें भी कुछ गुण अवश्य है, और उनसे लाभ भी पहुँचा है, परन्तु ध्यान देकर तौलने-पर लाभकी अपेक्षा हानिका ही पलड़ा अधिक नीचा दिखायी देता है। पहले तो मोहवश सोचा नही, परिणामपर ध्यान दिया नही, अब, जब कि चारो ओर इस शिक्षाके साँचेमें ढले हुए लोगोकी संख्या बढ गयी, और उनकी चेष्टासे जब कि चारो ओर शिक्षाकी प्रगतिके

नामपर इसका विस्तार करनेवाले स्कूल-कालेज बढ गये, दृष्टिकोण बदल जानेसे लाखो नर-नारी इस शिक्षाको परम लाभकारी समझकर सम्मानकी दृष्टिसे देखने लगे, तब ध्यान देनेसे कुछ विशेप लाभकी आशा नही रही ! अब तो इस रोगकी जड़ बहुत दूर-दूरतक फैल गयी है, और जबतक इसके विपमय कुफलोंसे भलीभॉति हमारा समाज जर्जरित होकर निरुपाय हो भगवान्‌की शरण नहीं हो जायगा, तबतक इससे मुक्त होना बहुत ही कठिन है । विश्वविद्यालयोंके दीक्षान्त भाषणोमे इस शिक्षापद्धतिके कुफलपर प्रायः बहुत कुछ कहा जाता है । इस पद्धतिको सत्यसे दूर, बेकारी पैदा करनेवाली, धर्महीन और विलासिताको बढानेवाली बतलाया जाता है परन्तु फल कुछ नहीं होता । कारण प्रत्यक्ष है, परिणाम देखकर उन लोगोंको कहना तो पड़ता है लेकिन दृष्टिकोण वही बना रहनेके कारण पुनः-पुनः विचार करनेपर भी उन्हे इसीमे लाभ दीखता है, और अनेक कारणोंसे इसकी आवश्यकता भी प्रतीत होती है, अतएव कोई क्रियात्मक सुधार नहीं होता । दिनोंदिन शिक्षालयोकी, शिक्षितोकी और शिक्षार्थियोकी संख्या बढ़ती जाती है और उसीके साथ-साथ समाजशरीरमे रोगके परमाणुओंका प्रवेश भी होता जाता है । परन्तु उपाय कुछ भी नहीं सूझता । ऐसी हालतमे केवल शिक्षाके दोषोपर ही आलोचना करनेसे कोई विशेष लाभ नही दिखायी देता । जो लोग दृष्टिकोणके भेदसे इस शिक्षासे परम लाभ समझते हैं, उनपर भी दोष नही दिया जा सकता, क्योकि वे ऐसा ही देखते हैं । न किसीको उलाहना देने या किसीका तिरस्कार करनेसे ही कोई सुफल होनेकी सम्भावना दीखती है । इतनेपर भी

जो कुछ लिखा जाता है, सो केवल मित्रोंकी आग्रहपूर्ण आज्ञा पालन करनेके लिये ही अपने मतमे जो-जो कुछ ठीक जँचता है, लिखा जाता है। किसी व्यक्तिविशेषपर कोई आक्षेप करनेकी नीयतसे नही। भाषामे कहीं कटुता आ जाय तो उसके लिये पहलेहीसे मै क्षमाप्रार्थी हूँ।

शिक्षाका यथार्थ उद्देश्य

आर्यसभ्यताके अनुसार शिक्षाका उद्देश्य है उसके द्वारा इहलोकमे सर्वाङ्गीण(शारीरिक, मानसिक, साम्पत्तिक और नैतिक) अभ्युदय और परलोकमे परम निःश्रेयस—मोक्षकी प्राप्ति। ऋषियोंकी दृष्टिमे विद्या वही है जो हमे अज्ञानके बन्धनसे विमुक्त कर दे। 'सा विद्या या विमुक्तये।' भगवान् श्रीकृष्णने गीतामे 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' कहकर इसी सिद्धान्तका समर्थन किया है। इसी उद्देश्यसे आर्यजातिके पवित्रहृदय और समदर्शी त्रिकालज्ञ ऋषियोने चार आश्रमोकी (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासकी) सुन्दर व्यवस्था की थी। ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोको पालन करता हुआ ब्रह्मचारी विद्यार्थी संयमकी व्यावहारिक शिक्षाके साथ-ही-साथ लौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी विद्याओंको पढकर, सब प्रकारसे शरीर, मन और वाणीसे स्वस्थ एवं संयमी होकर गुरुकुलसे निकलता था; और तब वह गृहस्थमे प्रवेशकर क्रमशः जीवनको और भी संयममय, सेवामय और त्यागमय बनाता हुआ अन्तमे सर्वत्याग करके परमात्माके स्वरूपमे निमग्न हो जाता था। यही आर्यसंस्कृतिका स्वरूप था। जबतक देशमे यह आश्रमसम्मत शिक्षापद्धति

प्रचलित थी, तबतक आर्यसंस्कृति सुरक्षित थी, और सभी श्रेणीके लोग प्रायः सुखी थे। जबसे, अनेक प्रकारकी विपरीत परिस्थितियोंमें पडकर मोहवश हमने अपनी इस आश्रमसम्मत शिक्षापद्धतिको ठुकराया, तभीसे हमारी आदर्श आर्यसंस्कृतिमें विकार आने लगे। आज बीसवी शताब्दीमें तो हमारी उस संस्कृतिकी सुदृढ नौका हमारे ही हाथों नष्ट-भ्रष्ट होकर डूबने जा रही है ! ऐसा मतिभ्रम हुआ है कि विनाशके गहरे गर्तमे गिरना ही आज हमारे मन उन्नतिका निदर्शन हो गया है। जिस चोटी और जनेऊको मुसलमानोकी तलवार नही काट सकी, उसीको आज हम शिक्षाभिमानी हिन्दू स्वयं ही उन्नतिके नामपर कटवा रहे हैं। अग्निकुण्डकी लाल-लाल लपटोमे पडकर भी हिन्दूनारीके जिस सतीत्वको जरा-सी ऑच नहीं लगी, वरं उससे वह और भी चमक उठा, वही सतीधर्म आज शिक्षाके फलस्वरूप हमारी बहिन-बेटियोंके लिये भाररूप हो चला है, और उसको उतार फेंकनेके लिये चारों ओर सुसंगठितरूपसे कमर कसी जा रही है। जिस धर्म और ईश्वरको हमने अपने समाजशरीरका मेरुदण्ड समझ रक्खा था, आज उसी धर्मकी आवश्यकता और ईश्वरके अस्तित्वको अपने शिक्षितसमुदायके सामने स्वीकार करनेमे हमारे शिक्षित युवकोको संकोच और लज्जाका अनुभव होता है। मानो वे किसी मूर्खतापूर्ण कुसंस्कारका समर्थनकर अपनी विद्वत्तामे बट्टा लगा रहे है अथवा कोई गुरुतर अपराध कर रहे है। कामोपभोग ही आज हमारे जीवनका चरम लक्ष्य बन गया है। कामपरायण होकर आज हम अदूरदर्शी शिक्षाभिमानी लोग आपात इन्द्रियसुखको ही परम सुख समझकर अग्निशिखामे पडकर

भस्म हो जानेवाले मूढ पतंगोकी भाँति कामाग्निमे भस्म होनेके लिये अन्धे होकर उड़ने लगे हैं। इसमे युगप्रभाव तो प्रधान कारण है ही। परन्तु उसकी सिद्धिमे एक बड़ा निमित्त है हमारी यह वर्तमान धर्महीन शिक्षापद्धति। इस शिक्षाके पीछे एक जबरदस्त 'संस्कृति' की प्रेरणा है, जिसने हमारी आँखोको चौधिया दिया है। और इसीसे हम आज मायामरीचिकामे फँसकर उसे अपनानेके लिये बेतहाशा दौड़ लगा रहे है। और इसीसे आज हम अपने सरलहृदय बालक-बालिकाओके हृदयमे कामोपभोगमयी उस 'सभ्यता'का भीषण विप प्रवेश कराकर उन्हे ध्वंसके मुखमे ढकेल रहे है और इसीमे उनका और अपना कल्याण मान रहे हैं! जिन देशोंकी यह 'सभ्यता' है, वे तो आज तंग आकर इससे मुक्त होनेकी राह ढूँढने लगे है और हम भाग्यहीन उसीको अपनानेके लिये आँख मूँदे दौड़ रहे है!! भगवान् हमारी बुद्धिका यह विभ्रम कब दूर करेंगे?

वर्तमान शिक्षासे उत्पन्न दोष

आजकलके कालेजोंमे पढ़नेवाले अधिकांश विद्यार्थियोंमे न्यूनाधिकरूपसे—क्रियारूपमे अथवा विचाररूपमे आपको निम्नलिखित दोष प्रायः मिलेंगे, जो विद्यार्थी—ब्रह्मचारी-जीवनसे सर्वथा प्रतिकूल है।

१—ईश्वर और धर्ममें अविश्वास।

२—संयमका अभाव।

३—ब्रह्मचर्यका अभाव।

४—मातापिता आदि गुरुजनोंमें अश्रद्धा।

५–प्राचीनताके प्रति विद्वेष ।

६–विलासिता और फिजूलखर्ची ।

७–खेती, दूकानदारी और घरेलू कलाकौशलके कार्योंके करनेमें लज्जा । और

८–सरलताका अभाव ।

इनको कुछ विस्तारसे देखिये ।

१–'ईश्वर मनुष्यकी कल्पना है ।' 'ईश्वरकी चर्चा करना समय नष्ट करना है ।' 'ईश्वरको किसने देखा है ?' 'धर्म ढोंग है ।' 'स्वार्थी मनुष्योंने भोले लोगोंको ठगनेके लिये ईश्वर और धर्मका वहम रचकर लोगोंको डरा रक्खा है ।' 'धर्म एक कुसंस्कार है ।' आदि बातें आजका शिक्षित मनुष्य बड़े गर्वसे कहता है । इन विचारोंका माननेवाला होनेपर भी जो कुछ साधुहृदयका होता है और दूसरोंकी मान्यताको ठुकराकर उनके हृदयको ठेस नहीं पहुँचाना चाहता, वह बड़ी बुद्धिमानीके साथ मानो मूर्खोंको समझाता हुआ-सा कहता है—'होगा ईश्वर, हम उसका विरोध नहीं करते । परन्तु वह किसीको दीखता थोड़े ही है । परन्तु सारा जगत् जब ईश्वरसे पूर्ण है, तब जगत्की सेवा ही ईश्वरकी सेवा है, अतएव भजन-पूजनमें व्यर्थ समय न बिताकर जनताकी सेवा करनी चाहिये । गीतामें भी तो सर्वभूतस्थित भगवान्को अपने कर्मोंसे पूजनेकी बात कही गयी है ।' यो समझानेवाला स्वयं तो भगवान्को नहीं मानता, परन्तु अपनी बुद्धिमानीका प्रयोग करके ईश्वरका प्रत्यक्ष खण्डन न कर परोक्षरूपसे भजन-पूजनरूपी कार्योंको व्यर्थ सिद्धकर मानो ईश्वरसम्बन्धी कुसंस्कारोंसे हमे मुक्त करनेके लिये इस

युक्तिवादसे काम लेता है। वह इस बातको नही समझता कि सच्ची भगवदनुभूतिके बिना—जीवमे शिवके दर्शन किये बिना यथार्थ सेवा कभी बन ही नही सकती। जो सेवा अहंकारकी जननी है, वह तो सेवा ही नही है। और शिवज्ञानशून्य सेवासे तो अहंकार ही उत्पन्न होगा। शिवहीन यज्ञका परिणाम तो सर्वध्वंस ही होगा! इस प्रकार ईश्वर और धर्मकी अवहेलनासे धीरे-धीरे उच्छृङ्खलता और यथेच्छाचारकी वृद्धि हो रही है परन्तु इसीको उन्नति समझा जाता है!

२—संयम तो किसी बातमे भी नही दिखायी देता। बोल-चाल, हँसी-मजाक, रहन-सहन, वेशभूषा, खानपान, सोना-उठना, आचार-विचार सभीमे मनमानी होती है। शिष्टाचारका आदर नही। जबानपर लगाम नही। कुछ वर्षों पहले एक बार मै पटनेसे स्टीमरमें आ रहा था। उसी स्टीमरमे कालेजके विद्यार्थियोंका एक दल सवार हुआ, कुछ नववयस्क अध्यापक भी साथ थे। वहाँ उनका जो हँसी-मजाक शुरू हुआ, वह सभ्यताकी सीमाको पार कर गया। पास ही कुछ भद्रमहिलाएँ बैठो थी। वे लज्जासे सिकुडने लगी, परन्तु बाबुओका इस ओर कोई ध्यान ही नही था। मालूम होता था मानो उनके मन स्टीमरमे दूसरा कोई है ही नहीं। गंदी भाषा, गंदे इशारे, सामूहिक विकट हास्य, चिल्लाना और कुत्ते-बिल्लीकी बोली बोलना कुछ भी बाकी न रहा। एक बूढे मौलवी साहेबने तंग आकर जब उनको कुछ समझानेकी चेष्टा की तो उन बेचारेकी शामत आ गयी। दल-का-दल उनकी दाढ़ी, चश्मे और अचकनकी दिल्लगी उड़ाने लगा। ज्यो ही

मौलवी साहेब कुछ बोलते त्यों ही हँसीका भयानक बवंडर उठता। आखिर बेचारे मौलवी साहेबको वहाँसे उठकर दूसरी ओर चले जाना पड़ा।

खानपानमें तो कोई विचार ही नहीं, कैसी ही चीज हो, किसीकी जूँठन हो, जिस रकाबीमें खाँ साहेबके लिये अभी गोमांस आया, उसीमें दूसरे ही क्षण बाबू साहेबके लिये पकौड़ियाँ आ गयी। सोडावाटरकी बोतल तो मानो एक माँके कई बच्चोंके लिये माँका स्तन-सी ही बन गयी है। किसीकी जूँठन खानेमें कोई झिझक नही। एक दिन मैंने एक रेलवे स्टेशनपर देखा, कुछ विद्यार्थी नवयुवक चप्पल पहने, चश्मा चढाये, पंजाबी कुरतेपर जाकेट पहने ठहाका मारते और उछलते हुए आये और एक जनाना डब्बेके सामने एक खोनचेवालेके पास खड़े होकर तरह-तरहकी गंदी बातें करने लगे मानो उनके घर माँ, बहिन हैं ही नहीं; फिर उनमेंसे एकने खोनचेवालेसे दहीबड़े खरीदे, दूसरेने पकौड़ियाँ लीं और फिर लूट-खसोट शुरू हुई। एकका जूँठा दूसरेके मुँहमे ठूँसा जाने लगा। हँसीके मारे सब पसीने-पसीने हो रहे थे। इतनेमे चाय-बिस्कुट और न मालूम क्या-क्या मुसलमान खोनचेवालोंसे खरीदा गया। भक्ष्याभक्ष्यका और आचारशुद्धिका कुछ विचार ही नहीं। इस तरहकी घटनाएँ प्रायः रोज ही होती है।

घरमे गरीबी है, पिता बड़ी मुश्किलसे खर्च भेज पाते हैं, परन्तु बात-बातमें बाबूगिरी चाहिये। और चीजोकी बात तो दूर

रही, जूतेकी भी तीन-तीन जोडियोके बिना काम नही चलता। बाहर जानेके लिये अलग, टेनिसके लिये अलग और कमरेके लिये चट्टी अलग! कही भी किसी भी बातमें आत्मसंयमकी गुंजाइश नही। कहाँ तो गुरुकुलवासी विद्यार्थियोके छात्रजीवनको संयमित रखनेके लिये मनु महाराज इन नियमोंका विधान करते हैं—'ब्रह्मचारी प्रतिदिन नहाकर शुद्ध भावसे देवर्षिपितृतर्पण करे, देवताओकी पूजा करे, सुवह-शाम हवन करे, मद्य-मांसका सेवन न करे, इत्र-फुलेल न लगावे, हार-माला आदि न पहने, रस न खाय, स्त्रीके पास न जाय, उत्तेजक वस्तु न खाय, प्राणिहिंसा न करे, तेल न लगावे, आँखोमे सुरमा न डाले, जूते न पहने, काम, क्रोध, लोभके वश न हो, अकेला सोवे। नाचना, गाना, बजाना, जूआ आदि खेलना, कलह करना, दूसरोकी बातें जानना, असत्य बोलना, दूसरोका अहित करना, स्त्रियोकी ओर देखना, उनका आलिंगन करना आदि बातोसे बचा रहे।' और कहाँ आज उनमे इन नियमोके सर्वथा विपरीत सूर्योदयके बाद उठना, चाय पीकर पीछे स्नान करना, देवर्षि-पितरोंका मजाक उड़ाना, अभक्ष्य खाना, सेंट लगाना, सिनेमा देखना, गंदे उपन्यास पढ़ना आदि संयमका नाश करनेवाली बाते बढ़ी हुई है।

३—बड़े ही खेदकी बात है कि इस विषयमें तो आज हम सबसे बढ़कर पतित हो चले है। पाठ्यपुस्तकोंमे खुला शृंगार, गंदे नाटक-उपन्यासोंका पढ़ना, यौनसाहित्यका प्रचार, विलासितापूर्ण रहन-सहन, अनुभवहीन असंयमी युवक अध्यापकोंका संग, सहशिक्षाका प्रचार, भोगोकी लीलाभूमि पाश्चात्यपद्धतिके

विद्यालय और होस्टल, एवं परस्पर गंदे पत्रव्यवहारकी कुचाल, मनमे खामखाह विकार पैदा करनेवाले चटकीले चित्रपट आदि वस्तुएँ हमारे विद्यार्थियोंके उच्छृङ्खल जीवनको दिनोंदिन और भी उच्छृङ्खल बना रही है। मुझे एक बहुत विश्वस्त सज्जनने बतलाया था कि शिक्षाक्षेत्रमे सबसे बढकर अग्रसर प्रान्तकी युनिवरसिटीके विद्यार्थियोमें लगभग आधेसे अधिक जननेन्द्रियसम्बन्धी रोगोंसे ग्रस्त है! जातीय जीवनके आधार नवयुवकोंकी यह दुर्दशा निस्सन्देह खूनके आँसू बहानेवाली है!

४—मातापिता आदि गुरुजनोंको मूर्ख समझना, उनके कार्योंमे दोप देखना, कर्तव्यवश या अच्छा कहलानेके लिये शरीरसे उनकी कुछ सेवा करते हुए भी उनकी बुद्धिका अनादर करना आजकलके पढ़े-लिखे लोगोंका स्वभाव-सा बन गया है। घरमे जहाँ नित्य बड़े-बूढोके चरणोमे प्रणाम करनेकी आर्यप्रथा थी, वहाँ आज उनकी सन्तान कहलानेमे भी किसी-किसीको लज्जाका अनुभव होता है। एक पढे-लिखे भाईने एक वार मुझसे कहा था कि 'इन मूर्खोंका बेटा-पोता न होकर स्वतन्त्र विचारवाले देशोमे मेरा जन्म हुआ होता तो आज मै कितना सौभाग्यशाली होता।' यद्यपि ऐसे विचार बहुत थोड़े ही युवकोके होगे, परन्तु मातापिता आदिके विचारोमे तो श्रद्धा बहुत ही कम रह गयी है। बल्कि उनकी अवज्ञा करनेमे ही कहीं-कहीं उन्नति मानी और बतलायी जाती है। जो मातापिता जन्म देते है, पालते-पोसते है, कष्ट उठाकर पढाते है, उन्हींको जब पुत्र मूर्ख मानता है और उनके विचारो एवं वचनोका अनादर कर उन्हे सन्ताप

पहुँचाता है, तब उन मातापिताके हृदयोमे कैसी मर्मभेदी व्यथा होती है, इसका अनुमान उन पुत्रोको कभी नही हो सकता। मेरे सामने एक बार एक पिताने जब रो-रोकर अपना दुःख सुनाया था तब मेरी आँखोमे भी आँसू आ गये थे।

५—एक बार एक मेरे नवयुवक मित्रने कहा था कि हम तो पुराने मात्रका ध्वंस करके सब कुछ नवीन निर्माण करना चाहते है। वेद-पुरान-कुरान-बाइवल, किसीको भी हम नहीं मानते। ऐसी मनोभावना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे नवयुवकोंके हृदयोमे उत्पन्न होने लगी है। इसीसे वे सुधारके नामपर संहार करना चाहते है। प्राचीनताके प्रति ऐसा अविवेकमूलक विद्वेष और नवीनताका यह प्रबल आकर्षण इस शिक्षाका ही फल है।

६—कालेजके पढनेवाले विद्यार्थीका औसतन मासिक खर्च आजकल लगभग ५०) माना जाता है। बम्बई-सरीखी जगहोमे इससे कहीं अधिककी आवश्यकता होती है। कालेज और उनके छात्रावासोका निर्माण ही इस ढंगसे हुआ है—उनकी पद्धति और आदर्श ही इतना खर्चीला है कि जहाँ इससे कम खर्चमें रहना विद्यार्थी अपनी बेइज्जती समझता है। इनमे फैशन तो इतना बढ़ जाता है कि जितना खर्च उनके फैशनमे होता है, उतनेमें दो-तीन गरीब गृहस्थोका गुजर हो सकता है। तरह-तरहके जूते, जूते रँगनेकी स्याही, विलायती दन्तमञ्जन, आईना, कंघी, ब्रश, रिष्टवाच, क्रिकेटके लिये फलालैनका सूट, टेनिसके लिये पतलून और ब्लेजर, होटलोंका जलपान, सैलूनोकी हजामत,

कम्पनियोंकी कपड़ाधुलाई, नये-नये नावेल, दोस्तोंको दावत, प्रेमियोको प्रेमोपहार, सिनेमा, मैच आदि-आदि न मालूम कितनी फैशनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेमें उन्हें आँख मूँदकर धन खर्च करना पड़ता है। विद्यार्थियोंके गरीब माता-पिता गहने वेचकर, घर-द्वार बंधक रखकर, भीख माँगकर बड़ी आशासे बच्चोको पढानेके लिये खर्चका यह भारी बोझ उठाते हैं। परन्तु वहाँ एक दूसरेकी देखादेखी कालेजके विद्यार्थीको इस बातकी चिन्ता ही नहीं होती कि घरमे माता-पिताकी क्या हालत है। कभी छुट्टियोंमे घर आना होता है तो विवाहित युवक बीवियोंके लिये तरह-तरहके शौकके सामान लाना चाहते है, उसके लिये माता-पिताको अलग तंग होना पड़ता है। पुत्र नाराज न हो, उसके मनमे दुःख होगा तो वह फेल हो जायगा, इस डरसे माता-पिता जहरकी घूँट पी जाते है, परन्तु घर आये हुए पुत्रके सामने अपना दुःख कभी प्रकट नही करते। घर आकर कालेज-के विद्यार्थी घर-गृहस्थीकी तो बात ही क्यो पूछने लगे? क्यो वे घरके मोटे-सोटे काममे मन लगाकर मातापिताको सहायता देने लगे? मित्रोंसे मिलना-जुलना, हँसी-मजाक, प्रेमपत्र, ताश-शतरंज, कलेवा-जलपान आदिमे ही उनका समय बीत जाता है। पितामाता इसी आशापर यह सब सह लेते है कि बेटा पास होकर हमे कमाकर देगा। गाँवोंके उन गरीब मातापिताको क्या पता कि अभी जिस बेटेको पढानेकी नीयतसे उसकी उचित-अनुचित माँगका कुछ भी विचार न करते हुए ही हृदयका खून दे-देकर खर्च जुटाकर भेजते हो,

वही जब पढ़कर—पास होकर आवेगा, तब तुमलोगोंको मूर्ख समझेगा और यदि कही नौकरी न लगी तो परिवारभरको और भी मुश्किलमे पड़ना होगा।

गरीबका गुजर ऐसी अर्थनाशकरी शिक्षासे कैसे होगा, भगवान् ही जानें!

७—मैने देखा है परीक्षोत्तीर्ण लड़के घरकी खेतीका काम नही कर सकते, वे दूकानदारी नही कर सकते। सुनार, कुम्हार या चमारका पढ़ा-लिखा लड़का, अपने घरकी कारीगरीका काम करनेमे अपनी तौहीनी समझता है। आफिसकी नौकरीके सिवा वे सभी कामोमें प्रायः असमर्थ हो जाते है। झूठे आत्माभिमानके वश होकर अपना काम अपने हाथो करनेमें उन्हे शरम मालूम होती है। बाजारसे दो-चार सेर चीज खरीदकर लानेमे उन्हे कुलीकी जरूरत होती है। बोझ लाना उन्हे अपनी शानके खिलाफ जँचता है। घरमे झाड़ू देना, कपड़े धोना आदि कार्य करनेमें तो लाज मानो मूर्तिमान् होकर खड़ी हो जाती है। घरका काम तो अलग रहा, कई लोगोंको तो असभ्य-से लगनेवाले मातापिता और बहिन-भाइयोके साथ रहनातक बुरा मालूम होता है। सच पूछिये तो इसी कारण आजकल बेकारी भी ज्यादा बढ़ रही है। सभीको नौकरी चाहिये। झूठी इज्जतके मोहमें खर्च बढ़ा ही रहता है। परिणाममे आत्महत्याकी नौबत आती है। किसी कारीगर या मज़दूरने आत्महत्या की हो ऐसी बात शायद नही सुननेमे आती। आत्महत्या बेकार बाबू ही करते है जो नौकरी और वकीली आदिके

सिवा अन्य काम नहीं कर सकते। उनको हेय दृष्टिसे देखते हैं। इस मनोभावनाको लिये हर साल विश्वविद्यालयोंसे हजारों विद्यार्थियोंका पास होकर निकलते रहना, भविष्यमे बेकारीका कैसा भयंकर रूप सामने लावेगा और उसका परिणाम कितना भयंकर होगा यह कौन कह सकता है ?

८—हमारे बड़े-बूढ़ोंमे जितना निष्कपट भाव है, हमलोगोंमे उतनी ही कपट-चातुरी आ गयी है। पुराने लोग शत्रुको शत्रु कहेंगे और मित्रको मित्र, परन्तु आज ऊपरसे मित्र कहते रहकर भी भीतरसे हम शत्रुताका वर्ताव करेंगे। कपटपूर्ण मैत्री, मधुर वचनोंके पीछे छिपी हुई कठोरता आजकी सभ्यताका एक अङ्ग-सी बन गयी है। सरलताका नाम आज मूर्खता है और मक्कारीका बुद्धिमत्ता !

स्त्री-शिक्षा

पुरुषोंकी भाँति ही स्त्री-शिक्षाका भी काफी प्रचार बढ रहा है। पुरुषोमें शिक्षा बढ़नेके साथ-ही-साथ हमे स्त्री-शिक्षाकी भी आवश्यकता प्रतीत हुई। स्त्रियोंके लिये भी विद्यालय, स्कूल और कालेजोंकी स्थापना हुई। स्त्री-शिक्षाका भी वही आदर्श माना गया जो पुरुषोंके लिये था क्योंकि दृष्टिकोण ही ऐसा था। उच्च शिक्षा होनी चाहिये, और उच्च शिक्षाका अर्थ ही है कालेजोंकी शिक्षा, बी० ए०, एम० ए० की डिग्री प्राप्त करना, वकालत या डाक्टरी पास करना ! स्त्रियाँ भी इसी पथपर चलीं और चल ही रही हैं। वे भी पढ़-लिखकर अध्यापक, मास्टर, क्लर्क, वकील, वैरिस्टर, लेखिका, नेता, म्युनिसिपलिटी या कौंसिलोंकी मेम्बर बन रही हैं।

यही उन्नतिका स्वरूप है । चारो ओर इस उन्नतिके लिये उल्लास प्रकट किया जा रहा है, और यह उन्नति पूर्णरूपसे हो जाय इसके लिये अथक चेष्टा हो रही है । ऐसी स्त्री-शिक्षा देनेवाले स्कूल-कालेजोकी और विद्यार्थिनियोकी संख्या दिनोंदिन बढ रही है। शिक्षाके साथ-साथ शिक्षाके अवश्यम्भावी फलस्वरूप उपर्युक्त दोष स्त्रियोंमें भी आ रहे है । वे भी ईश्वर और धर्मका विरोध करने लगी हैं । सरलता, कोमलता, श्रद्धा, संकोच, प्राचीनतासे प्रेम आदि स्वाभाविक गुणोके कारण यद्यपि पुरुषोकी तरह ईश्वर और धर्मका खुला और आत्यन्तिक विरोध करनेवाली स्त्रियॉ अभी नही पैदा हुई है, परन्तु सूत्रपात्र हो चला है । संयमका अभाव भी बढ रहा है । पुरुषकी अपेक्षा स्वभावसे ही स्त्री कई बातोमे अधिक संयमी होती है, इससे उसकी इधर प्रगति यद्यपि रुक-रुककर होती है, परन्तु उसका देखादेखी करनेका स्वभावदोष उसे असंयमकी ओर खीचे लिये जाता है, इसीसे आज शिक्षित स्त्रियोमे असंयमकी मात्रा बढ़ रही है । जिस बातको मनमे लानेमे भी स्वभावसे ही शुद्ध और लज्जाशील स्त्रीका हृदय कॉप उठता था आज वही बात पुकार-पुकार कहनेमे उसे लज्जा नही आती । परपुरुषोसे पत्र-व्यवहार करने, उनके साथ हँसी-मजाक करने, परपुरुषोके साथ ताश-शतरंज खेलने और नाचने आदिमें भी संकोच उठता जा रहा है। ब्रह्मचर्यका अभाव तो भीषण रूपसे हो रहा है । कुछ दिनों पूर्व लाहौरके एक सुधारक पत्रमे लड़के-लड़कियोकी सहशिक्षाके विरोधमें एक जिम्मेदार सज्जनका लिखा हुआ एक लेख निकला था जिसमें लिखा था कि '' ...... की लेडी हेल्थ आफिसरकी

घोषणाका स्वाध्याय किया जाय जो उन्होंने...... ......के विद्यालयोंमें पढ़नेवाली विद्यार्थिनियोंके स्वास्थ्यकी देखभाल करके की है, कि बारह वर्षसे ऊपरकी आयुवाली क्वाँरी लड़कियोंमेंसे ९० प्रतिशतके लगभग आसवती (गर्भवती) और गर्भपात करनेवाली पायी जाती है। यदि निष्पक्षतासे देखा जाय तो सब ओर यही आग लगी हुई है, परन्तु मातापिता और देशके नेता क्या सोच रहे हैं, यह हमारी समझसे बाहर है !'

९० प्रतिशत तो बहुत दूरकी बात है, १० प्रतिशत भी हो तो बहुत ही भयानक है। विश्वास नहीं होता कि यह संख्या सत्य है। सम्भव है छपनेमें भूल हुई हो, परन्तु इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि आजकल स्कूलोंमें पढनेवाली क्वाँरी कन्याओंके चरित्रोंके बिगड़नेकी सम्भावना बहुत अधिक है, और इसीलिये ऐसी घटनाओंकी संख्या दिनोंदिन बढ रही है। जब लड़कियोंका यह हाल है, तब स्वेच्छाचारको ही आदर्श माननेवाली शिक्षिता वयस्का स्त्रीका क्या हाल हो सकता है, यह सोचते ही हृदय काँप उठता है।

आजकी पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ मातापिताको नहीं मानतीं। समाचारपत्रोंमें छपा है कि नागपुरके एस० आर० गोखले नामक एक वृद्ध सज्जनने स्त्रीसहित इसलिये महान् दुखी होकर अपने प्राण दे दिये हैं कि उनकी शिक्षिता युवती कन्या मातापिताकी आज्ञाके प्रतिकूल अपना मनमाना विवाह करना चाहती थी। आजके युवक-युवती कह सकते हैं कि 'विवाह लड़कीका था। माँ-बापका

तो था ही नही । लड़की स्वतन्त्रतासे मनमाना पति वरण करती। मॉ-बापको बीचमे बोलनेकी क्या आवश्यकता थी ।' ठीक है यही तो अहिन्दू आदर्श है । इसी आदर्शके कारण आज अदूरदर्शी नवयुवक और नवयुवतियोके द्वारा इन्द्रियोके आकर्षणसे उत्पन्न बुद्धिशून्य और मर्यादारहित प्रेमस्वातन्त्र्य (free love) को महत्त्व दिया जा रहा है, और उसमे जरा-सी बाधा आते ही वे आत्महत्या कर लेते है । यही अहिन्दू आदर्श मातापितामे, उनकी बुद्धिमे और विवेचनाशक्तिमे अश्रद्धा उत्पन्न कराकर तमाम प्राचीनताके प्रति मनको विद्रोही बना रहा है । आजकी शिक्षिता स्त्री इसीलिये अपनी सासके पैरोंमे सिर झुकानेमे या पतिकी सेवा करनेमे अपना अपमान समझती है । इस उच्च शिक्षाका आदर्श तो वही यूरोप है न, जहॉ संगठित रूपसे पतियोके विरुद्ध जेहादका झंडा उठाया जाता है और पतिघातिनी समितियॉ बनती है ! स्त्री किसीके साथ हँसे-खेले, घूमने जाय, सिनेमामें जाय, शराब पीये, कुछ भी करे, पति या पितामाता उसे कुछ कह ही नही सकते, क्योकि यही तो सभ्यताका चिह्न है। हा! भारतकी सतीशिरोमणि देवी ! तू आज अपने पवित्र लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर किस नरक-कुण्डकी ओर अग्रसर हो रही है !!!

विलासिता और फिजूलखर्चीका तो कहना ही क्या है ? पतिको चाहे बीस रुपये मासिककी नौकरी न मिलती हो, बीबीको तो अपनी मौजशौक पूरी करने, फैशनका सामान खरीदने और सिनेमामे जानेके लिये पैसे जरूर चाहिये । कालेजकी लडकियोका यह हाल है कि आज वे केवल फैशनके पीछे पगली हो रही है ।

करोड़ो रुपयेकी व्यर्थ शृङ्गारकी वस्तुएँ इस फैशनके लिये विदेशोंसे आती है । घरका काम करना, झाड़ू देना, चक्की पीसना और रसोई बनाना उनके लिये अपमानका कारण बन गया है । भारत-सरीखे निर्धन देशमें कन्याओंको इस प्रकार शौकीन और खर्चीला बनाना और घरके कामोंसे विमुख करना अपार दुःखोंको निमन्त्रण देना है । यह बहुत बड़ा सामाजिक पाप है ।

इससे मेरा यह मतलब नहीं है कि स्त्री अपने शरीरको मैला रक्खे, सफाईसे न रहे, गंदे कपड़े पहने या स्त्री-सुलभ उचित शृङ्गार न करे । ये सब कार्य तो विलासिताकी भावनाके बिना भी हो सकते हैं और होने चाहिये तथा इनमे खर्च भी अधिक नहीं होता । याद रखना चाहिये कि सौन्दर्य फैशनमें नहीं है, सौन्दर्य हृदयके आदर्श गुणोंमे है । सौन्दर्य बोलचाल, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, विनय-नम्रता, सचाई-सफाई, स्वास्थ्य और शक्ति आदिकी स्वाभाविक उच्चतामे है । जिसका हृदय सुन्दर और मधुर है, जिसके कार्य सुन्दर और मधुर हैं, वही सबसे बढ़कर सुन्दर है । फिर, शारीरिक सौन्दर्यकी रक्षाके लिये भी उचित और कमखर्चीके पदार्थोंका यथासाध्य उपयोग करनेमे कोई बुराई नहीं है । बुराई तो फैशनकी गुलामीमे है । जहाँ फैशनकी गुलामी होगी, वहाँ उसकी पूर्तिके लिये धनकी भी विशेष आवश्यकता होगी और वह धनकी आवश्यकता ही आज स्त्रियोंके स्वाभाविक गुण सरलताको कपटाचारके द्वारा पराजित करवा रही है ।

उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त स्त्रियोंमे कुछ स्त्रियोचित खास दोष और आ गये हैं, जिनमें सबसे प्रधान विवाहविच्छेद और सन्तति-

निरोधकी भावना, सब बातोंमे समान अधिकारकी अव्यावहारिक इच्छा और सिनेमाओंमें नाचनेका शौक है !

तलाक और सन्ततिनिरोध

विवाहविच्छेदकी भावना ही पवित्र दाम्पत्य-प्रेमका समूल नाश करनेवाली है। जिस हिन्दू-संस्कृतिमे 'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं' सतीत्वका आदर्श था, जहॉ हजारो कुल-ललनाएँ पवित्र सतीत्वकी रक्षाके लिये जलती आगमे सहर्ष कूद पड़ती थी, जहॉ दुर्दान्त रावणके चंगुलसे छूटनेकी सम्भावना होनेपर भी पुत्रके समान हनुमान्‌का इच्छापूर्वक स्पर्श करना सीताने अपने सतीत्वके लिये कलंक समझा था; जहॉ मृत पतिकी लाशको गोदमे रखकर देहको सहर्ष भस्म कर डालनेमे गौरव माना जाता था, वहॉकी कुलदेवियॉ आज अन्तःपुरके पर्दोंको फाड़कर परपुरुषोंके बीचमे सभाओमे खड़ी होकर यह कहनेमे भी नही हिचकती कि "सतीत्व एक 'कुसंस्कार' है, यह पुरुषोकी गुलामी है, इस गुलामीसे छूटनेके लिये तलाक करनेका हमे हक है।"

लगभग ८६ वर्ष पहलेकी एक सच्ची घटना है। बंगालके राजशाही जिलामे पुँठिया नामक एक गॉव है। रानी शरत्सुन्दरी उसी गॉवके जमीदार योगेन्द्रनारायणकी पत्नी थी, योगेन्द्रनारायणकी मृत्यु हो गयी। रानी विदुषी थी। सोलह वर्षकी अवस्थामे कोर्ट आफ वार्डस्‌से अधिकार मिलनेपर वह जमीदारीका काम बड़ी सावधानीसे चलाने लगी। एक बार राजशाहीके कलक्टर मि० वालेसकी पत्नी रानीके गुण सुनकर उससे मिलने आयी। इतनी छोटी उम्रमे मुँड़ा

हुआ मस्तक, मोटे कपड़े और जमीनपर कम्बलके आसनपर रानीकी तपस्विनी मूर्तिको बैठी देखकर सहृदया मिसेज वालेसका हृदय भर आया। वह स्नेहके वेगको रोक न सकी। सरल भावसे उन्होने कहा, 'रानी! आपकी उम्र तो अभी बहुत छोटी है, आप विवाह क्यों नही कर लेतीं?' शरत्सुन्दरीने कोई उत्तर नही दिया, परन्तु उसकी ऑखोसे ऑसुओकी धारा वह चली। मेम साहिवा उसे दुखी देखकर घबरायी और क्षमा मॉगकर चली गयी। रानीको बडा दुःख हुआ। वह सोचने लगी कि हिन्दू विधवा स्त्रीके लिये पुनर्विवाहकी बात सुननेसे बढकर और क्या पाप होगा। रानीने इसका प्रायश्चित्त करनेके लिये कई दिनोतक निर्जल उपवास किया! कहॉ तो पतिके मर जानेपर विवाहका नाम सुननेसे हिन्दू-स्त्रीका हृदय इस प्रकार पापकी भावनासे कॉप उठता था, कहॉ आज जीते पतिको त्यागकर पर-पुरुपको वरण करनेकी घोषणा हिन्दूमहिलाएँ भरी सभामे अपने मुँहसे करने लगी!!!

इसीके साथ सन्ततिनिरोधका भी प्रश्न छिड़ा हुआ है। माना कि भारतके समान गरीब देशमे अधिक सन्तान माता-पिताके सन्तापका हेतु होती है, परन्तु यह तो विधिका विधान है। पूर्वकर्म भी कोई वस्तु है, उसका फल सहज ही टल नही सकता। जिस जीवका जहॉ जन्म वदा है, वहॉ होगा ही यह सिद्धान्त है परन्तु यदि कोई इसे न माने तो भी सन्ततिनिरोधका सबसे बढिया तरीका इन्द्रिय-संयम है। सन्ततिनिरोधकी आवश्यकता और साधन बतलानेवाली मिस सेगर-जैसी विदेशी रमणीके सद्भावोका अनादर

न करते हुए भी यह कहना ही पड़ता है कि वे साधन भारतीय संस्कृतिके अनुसार नीति और धर्म दोनो ही दृष्टियोसे हानिकर ही नही वरं बड़े पापपूर्ण है। इस प्रकारकी सन्ततिनिरोधकी प्रणालीमे व्यभिचारकी वृद्धि और कामवासनाकी निष्कण्टक चरितार्थता-की सम्भावना ही प्रत्यक्ष रूपसे छिपी है। महात्मा गाँधीने हालहीमे एक लेखमे लिखा है कि—'इन कृत्रिम साधनोसे ऐसे-ऐसे कुपरि-णाम आये है जिनसे लोग बहुत कम परिचित है। स्कूली लड़के और लड़कियोंके गुप्त व्यभिचारने क्या तूफान मचाया है यह मै जानता हूँ × × × × × मै जानता हूँ स्कूलोंमे, कालेजोमे ऐसी अविवाहित जवान लड़कियाँ भी है जो अपनी पढाईके साथ-साथ कृत्रिम सन्तति-निग्रहका साहित्य और मासिकपत्र बड़े चावसे पढती रहती है और कृत्रिम साधनोको अपने पास रखती है। इन साधनोको विवाहित स्त्रियोतक ही सीमित रखना असम्भव है और विवाहकी पवित्रता तो तभी लोप हो जाती है जब कि उसके स्वाभाविक परिणाम सन्तानोत्पत्तिको छोडकर महज अपनी पाशविक विषय-वासनाकी पूर्ति ही उसका सबसे बड़ा उपयोग मान लिया जाता है।' इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मनुष्योके हृदयमे कृत्रिम सन्ततिनिग्रहके इस आन्दोलनसे पवित्रताके स्थानपर किस प्रकार घृणित पाशविक कामका आधिपत्य हो रहा है, और किस प्रकार हमारे अपरिपक्व मति बालक और बालिकाएँ इसके शिकार होकर अपना सर्वनाश कर रहे हैं। इसी प्रकार सभी बातोमे समानता और तलाकके आन्दोलनमे भी बहुत अंशमे इस घृणित कामकी ही प्रेरणा प्रधानरूपसे कार्य कर रही है!

समानाधिकार

आज यह कहा जाता है कि 'स्त्री-पुरुष दोनोका समान अधिकार है, अतः स्त्रीको सब बातोमे समानता मिलनी चाहिये। पुरुष बाजारमे जाता है, नौकरी करता है, खेल-तमाशेमे जाता है, सभा-समितिमे जाता है, कौंसिलका मेम्बर बनता है, और वकील-बैरिस्टर या जज बनता है। स्त्रीका इन सब बातोमे ऐसा ही अधिकार क्यो नही होना चाहिये? यह पुरुषोंकी स्वार्थपरता है जो उन्होंने स्त्रियोको आरम्भसे ही अपना गुलाम बनाये रखनेके लिये उनको धोखा देकर उलटा समझाया।' इस प्रकार आजकल पुरुष-विद्वेषकी भावना उत्पन्न कर स्त्रियोको उकसाया जाता है और शिक्षिता कहलानेवाली माताएँ काफी उकसने भी लगी हैं। वे कहती है कि 'हम लड़कपनमे माता-पिताकी, जवानीमे पतिकी और वृद्धावस्थामें पुत्रकी संरक्षकतामे क्यो रहें? क्या हम मनुष्य नहीं है? क्या हमें उतना ही हक नहीं है जितना पुरुषको है;' मायाका ऐसा ही चमत्कार है, शिक्षावारुणीका ऐसा ही नशा है जो इस बातको समझने ही नहीं देता कि समानाधिकारकी बात तो तब उठ सकती जब दो चीजें वस्तुतः अलग-अलग होती। हमारी संस्कृतिमे तो दम्पति स्त्री-पुरुषका एक सम्मिलित नाम है, दोनों परस्पर अर्द्धांग हैं। एक ही आत्माके दो व्यक्त स्वरूप हैं। ऐसी अवस्थामे पुरुषके साथ प्रतिस्पर्धा करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। रही शारीरिक स्वाधीनताकी बात, सो विधाताने स्त्री और पुरुषकी देहकी रचना ही ऐसे ढंगसे की है जिससे दोनोकी सब बातोमे कदापि समानता हो नही सकती। घरमे स्त्री रानी है,

पुरुष उसकी रक्षामे है, उसका दिया हुआ भोजन पुरुषको खानेको मिलता है। परन्तु बाहर स्त्रीको पुरुषकी संरक्षकतामे रहना चाहिये। स्त्रीका शरीर सम्पूर्ण रूपसे कभी स्वाधीन होने योग्य बना ही नही है। पुरुष बदन खोलकर आम रास्तोपर घूम सकता है, स्त्री वैसे नही घूम सकती। जंगली स्त्रियाँ भी छातीपर कपड़ा डालकर बाहर निकलती है। हाँ, आजकलकी नंगे सम्प्रदायकी पाश्चात्य स्त्रियाँ नंगी रहना चाहती है, यह दूसरी बात है। परन्तु वहाँ भी आम तौरपर रास्तोमें पुरुषकी भाँति स्त्री खुले अंग निर्भीक नही घूम-फिर सकती। ऋतुकालसे ही स्त्रीके सब अंगोमे पुरुषके अंगोके साथ विलक्षण रूपसे भेद बढने लगता है। ऋतुकालमे उसकी रक्षाकी आवश्यकता होती है। उसे गर्भ धारण करना पड़ता है। गर्भकालमे उसकी देहमे कितने ही परिवर्तन होते है। कई तरहके विघ्नोकी सम्भावना रहती है। उस समय उनसे बचनेके लिये दूसरेकी सहायता आवश्यक होती है। उसे कठोर शारीरिक और मानसिक श्रम तथा उद्वेगसे बचाव रखना पड़ता है। प्रसवके समय खास तौरपर देख-रेखकी जरूरत होती है। गर्भ और प्रसव दोनो ही समय उसके लिये कई आवश्यक नियमोंका पालन अनिवार्य हो जाता है। वह सन्तानकी जननी बनती है। भगवान् उसके स्तनोंमे दूध उत्पन्न करते हैं और वह स्नेहपूर्ण हृदयसे बच्चेका पालन-पोषण करती है, परन्तु पुरुषको इनमेसे कुछ भी नही करना पडता।

नारी-हरणका नाम सुनते ही हमारा खून खौलने लगता है। पुरुष-हरणकी बात तो 'अमेरिकाको छोडकर' कही नही होती।

स्त्रीके शरीरमे तप, धीरज, तितिक्षा और पोपणकी शक्ति है, इसीसे वह इतना त्याग करती है। पुरुष वैसा नही कर सकता। परन्तु यह सत्य है कि देहकी दृष्टिसे स्त्री सदा निराश्रया है। हृदयकी दृष्टिसे वह पिता, पुत्र और पतिकी आश्रयस्वरूपा है। उसकी स्वाधीनता हृदयके क्षेत्रमे है, देहके क्षेत्रमे नहीं। इसी हृदयके वलपर स्त्री पुरुपपर सदा ही विजयिनी है। वह स्नेहकी मूर्त्ति, प्रेमका अवतार और वात्सल्यकी प्रतिमा है। इसीसे विद्या, पद, गौरव, मान-सम्मान आदिमे बहुत बढे-चढे पुरुप भी सन्ध्याके समय घर आकर स्त्रीका आश्रय लेते हैं। स्त्रीका यह प्रताप शारीरिक शक्तिसे नही है; प्रेमशक्तिसे, हृदयशक्तिसे, सेवाशक्तिसे है। स्त्री यदि इस अनुपम हृदय-सम्पत्तिका तिरस्कार करके शारीरिक सम्पत्तिमे पुरुपकी प्रतिद्वन्द्विता करने लगेगी तो इससे दोनोंका ही अमंगल अनिवार्य है। स्त्री अपने इस विजयपदसे गिर जायगी, निराश्रय हो जायगी। और वह जितना ही इस क्षेत्रमे आगे बढ़ेगी उतना ही अपनी स्वाधीनता खोकर पुरुपके चंगुलमे फँस जायगी। आज वह पुरुषको नचाती है, अपने चरणोपर गिराती है, फिर उसे नाचना पड़ेगा। और पुरुप अपने एक परम मित्रको खोकर—दिनभरका थका-मॉदा घर आकर जिसके आश्रयसे, कुछ समयके लिये अपने सब दुःखोको भूलकर सुखी हो जाता है—सर्वथा निराश्रय हो जायगा। परन्तु क्या किया जाय, वर्तमान शिक्षाने स्त्रियोको विपथगामिनी वना दिया है, इसीसे वे समानाधिकारके मोहमे पड़कर पुरुषविद्वेपका चश्मा चढानेके कारण अपना हिताहित भूल रही हैं और पुरुषोकी प्रतिद्वन्द्विता करनेके लिये अपने रानी-पदका परित्याग कर बाजारमे

निकल पड़ी हैं। इसीसे वे आज थियेटर, सिनेमा, सभा-समिति, कौंसिल, अदालत और आफिसके फेरमे पडकर अपने-आपको घृणित पराधीनताके पंजेमे फँसा देना चाहती है। इसीसे वे अपनी पोषणमयी प्रतिमाको बिगाड़कर शोपणका भीषण रूप धारण करना चाहती है। याद रखना चाहिये कि स्त्रीको कभी स्वतन्त्र न रहनेकी व्यवस्था इसलिये नहीं है कि स्त्री गुलाम है, उसे परतन्त्र रखना चाहिये। वह परतन्त्रता तो उसकी शोभा है। रानी ही पहरेदारोमे रहती है, उसके गुणोंकी, उसके सुन्दर शरीरकी, उसके जरा-से स्पर्शसे ही अपावन हो जानेवाले पवित्र सतीत्वकी, और आदर्श मातृत्वकी रक्षाके लिये उस परतन्त्रताकी आवश्यकता है। यह उसकी सम्मानरक्षाके लिये दिया हुआ विधाताका दान है!

समान शिक्षा और सहशिक्षा

एक और बहुत बुरी बात बढ रही है, वह है युवक-युवतियोंकी सहशिक्षा। अर्थात् एक ही विद्यालयमे इकट्ठे बैठकर एक-सी ही पुस्तकोको पढ़ना। प्रथम तो यह धर्महीन शिक्षा-प्रणाली ही हिन्दू स्त्रियोके आदर्शके सर्वथा प्रतिकूल है, फिर जवान लड़के-लड़कियोका एक साथ पढ़ना तो और भी अधिक हानिकर है। इस सहशिक्षाका भीषण परिणाम प्रत्यक्ष देखनेपर भी मोहवश उसी मार्गपर चलनेका आग्रह किया जा रहा है। इसका कारण प्रत्यक्ष है। जिन बातोको हम पतन समझते है, वही बातें उनकी दृष्टिमे उत्थान या उन्नतिके चिह्न है। पश्चिमीय सभ्यताका आदर्श ही उनके हृदयमें सबसे ऊँचा आसन

प्राप्त कर चुका है, अतएव उसकी ओर उनका अग्रसर होना और दूसरोको ले जानेकी चेष्टा करना स्वाभाविक ही है। परन्तु जो लोग अभी इसका विचार करते हैं, उन्हे बुद्धिपूर्वक कुछ सोचनेकी चेष्टा अवश्य करनी चाहिये।

पहले 'समान शिक्षा'पर कुछ विचार करें। शिक्षाका साधारण उद्देश्य है मनुष्यके अंदर छिपी हुई शक्तियोंका उचित विकास करना। परन्तु क्या पुरुप और स्त्रीमे शक्ति एक-सी है? क्या पुरुप और स्त्रीकी शक्तिके विकासका क्षेत्र एक ही है? क्या सव बातोमे पुरुपके समान ही स्त्रीको शिक्षा ग्रहण करनेकी आवश्यकता है? विचार करनेपर स्पष्ट उत्तर मिलता है—'नहीं।' दोनोंके शरीर-सङ्गठनमे भेद है, दोनोंके कार्यमे भेद है, दोनोंके हृदयोमे भेद है। इस भेदको ध्यानमे रखकर ही शिक्षाको व्यवस्था करनी चाहिये। इस प्रकृति-वैचित्र्यको मिटाकर आज हम प्रमादवश स्त्री-पुरुपको सभी कार्योंमें समान देखना चाहते है। इस असम्भव साम्यवादकी मोहिनी आशाने हमे अन्धा वना दिया है, इसीसे हमें आज प्रत्यक्ष भी अप्रत्यक्ष हो रहा है। ध्यानसे देखनेपर दोनोंमे दो प्रकारकी शक्तियॉ माननी पड़ती है और दोनोंके दो क्षेत्र सावित होते हैं। स्त्रियोका क्षेत्र है घर, पुरुप-का क्षेत्र है वाहर। स्त्री घरकी स्वामिनी है, पुरुप वाहरका मालिक है।* दफ्तर, वाजार, सभा, कचहरी, कौंसिल ये सव पुरुपोकी

* 'घर' और 'वाहर' से यह मतलव नहीं कि स्त्री सदा घरके अंदर वद रहे और पुरुष सदा वाहर ही रहे। स्त्री-पुरुष दोनो मिलकर ही एक सच्चा 'घर' है। पति वाहर जाता है उसी 'घर' के लिये, और स्त्री

चीजें है, स्त्री इनमे जाकर क्यो माथापच्ची करेगी ? उसे मातृत्वमें जो सुख है, घरकी स्वतन्त्रतामे जो आनन्द है, वह दफ्तरकी क्लर्कीमे कहाँसे मिलेगा ? स्त्रीका खास क्षेत्र मातृत्व है। उसके सारे अंग आरम्भसे इस मातृत्वके लिये ही सचेष्ट है। वह मातृत्वका पोषण करनेवाले गुणोसे ही महान् बनी है। बहुत बड़ा त्याग करके स्त्री इस मातृत्वके पदको प्राप्त करती और सुखी होती है। जिस शिक्षासे इस मातृत्वमे बाधा पहुँचती है, जिस शिक्षामे स्त्रीके पवित्र मातृत्वके आधारस्वरूप सतीत्वपर कुठाराघात होता है, वह तो शिक्षा नही, कुशिक्षा है। एक पत्रमे प्रकाशित हुआ था कि एक फैशनेबल पाश्चात्य युवतीने अपने बालकको इसलिये मार डाला कि उसको रात्रिके समय खाँसी अधिक आती थी, इस कारण वह बहुत रोता था और इससे युवतीके सोनेमे विघ्न होता था। एक युवतीने बच्चेके पालन-पोषणसे पिंड छुडानेके लिये आत्महत्या कर ली। मातृत्वका यह विनाश कितना भयङ्कर है ? परन्तु जिस उच्च शिक्षाके पीछे आज हम व्याकुल है, जिस सभ्यताका प्रभाव आजकी हमारी स्त्रीशिक्षाको सञ्चालित करता है, उस सभ्यताके मातृत्व-

---

घरमे रहती है उसी 'घर' के लिये। इसी प्रकार आवश्यक होनेपर धार्मिक या सामाजिक कार्यके निमित्त स्त्री घरकी मर्यादाके अनुसार पति-पुत्रादिके साथ बाहर जाती है उसी 'घर' के लिये—'घर' को भूलकर स्वतन्त्र शौकसे नहीं। पति घरमे आता है 'घर' के लिये। 'घर' को भूलकर, बाहरकी सफलतामे फूलकर, अभिमानमे डूबकर, हुकूमत करनेके लिये नही। घर-बाहरकी यह व्यवस्था जाना-आना, मिलना-जुलना, कमाना-खाना, पाठ-पूजन, दान-पुण्य, आचार-व्यवहार सब इस एक ही 'घर' को सुरक्षित और समुन्नत बनानेके लिये है।

नाशका तो यही नमूना है ! आज हम स्त्रियोंके मातृत्वभावका विनाश कर उन्हे तलवार चलाना सिखाते हैं, परन्तु यह भूल जाते है कि यदि मातृत्व या सतीत्वका आदर्श न रहा, यदि स्त्री अपने स्वाभाविक त्यागके आदर्शको भूल गयी—वह स्नेहमयी माँ, प्रेममयी पत्नी या त्यागमयी देवी न रही तो उसकी तलवारका शिकार उसीकी सन्तान, उसीका पति या उसीका अपना शरीर होगा। तलवार चलाना तो जरूर सिखाया जाय, परन्तु पहले मातृत्वको कायम रखकर। जिसमे उसका प्रहार शत्रुओपर ही हो, अपनों-पर नहीं!—माता शत्रुविनाशिनी बनें, पतिपुत्रग्रासिनी नहीं! वर्तमान शिक्षापद्धतिसे मातृत्वका बुरी तरह विनाश हो रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्त्री-पुरुषके लिये एक-सी शिक्षा सर्वथा अव्यावहारिक और हानिकारक है।

अब सहशिक्षापर विचार कीजिये। स्त्रियोमे बहुत-से स्वाभाविक गुण है। उन्ही गुणोंके कारण वे महान् पुरुषोंकी माताएँ बनती है। उन्हीं गुणोका विकास करना स्त्री-शिक्षाका उद्देश्य होना चाहिये। परन्तु साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि जो चीज जितनी बढी-चढी होती है, वह उलटे मार्ग-पर चले तो उससे नुकसान भी उतना ही अधिक होता है। स्त्रीको उन्नत बनानेवाले त्याग, सहनशीलता, सरलता, तप, सेवा आदि अनेक आदर्श गुण हैं। परन्तु स्त्री यदि चरित्रसे गिर जाती है तो फिर उसके यही गुण विपरीत दिशामे पलटकर उसे अत्यन्त भयङ्कर बना देते है। और सहशिक्षासे प्रत्यक्ष ही

व्यभिचारकी भावना उत्पन्न होती है जिससे कोमलहृदया कन्याओ-के चरित्रका नाश होते देर नहीं लगती ।

स्त्री-पुरुषके शरीरका संगठन ही ऐसा है कि उनमे एक दूसरेको आकर्षित करनेकी विलक्षण शक्ति मौजूद है। नित्य समीप रहकर संयम रखना असम्भव-सा है। प्राचीन कालके तपोवनमे निर्मल वातावरणमे रहनेवाले जैमिनि, सौभरि, पराशर-सरीखे महर्षि और न्यूटन और मिल्टन-जैसे विवेकी पुरुष, और वर्तमान कालके बड़े-बड़े साधक पुरुष भी जब संसर्ग-दोषसे इन्द्रिय-संयम नही कर सके, तब विलासभवनरूप सिनेमाओमे जानेवाले, गंदे उपन्यास पढनेवाले, तन-मन और वाणीसे सदा शृङ्गारका मनन करनेवाले, मौज-शौक तथा उच्छृङ्खलताके आदर्शको लक्ष्य माननेवाले, भोगवादको प्रश्रय देनेवाली केवल अर्थकरी (?) विद्याके क्षेत्र कालेजोमे पढ़नेवाले और यथेच्छ आचरणके केन्द्र-स्थान छात्रावासोंमे निवास करनेवाले विलासिताके पुतले युवक-युवतियोंसे शुकदेवके सदृश इन्द्रिय-संयमकी आशा करना अपने आपको धोखा देना है। परन्तु आज तो बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् यूरोपका उदाहरण देकर सहशिक्षाका समर्थन कर रहे है, मतिवैचित्र्य है !!

कुछ लोग संस्कृत नाटकोके आधारपर प्राचीन गुरुकुलोमें सहशिक्षाका होना सिद्ध करते है परन्तु उन्हे यह जानना चाहिये, कि प्राचीन ग्रन्थोमे कही भी कन्याओ और स्त्रियोंका ऋषियोके आश्रमोमें जाकर एक साथ पढ़नेका प्रमाण नही मिलता; गुरु-

कन्याओंके साथ भाई-वहनके नाते ब्रह्मचारी गुरुकुलमे अवश्य रहते थे। परन्तु गुरुकुलोंमे अत्यन्त कठोर नियम थे। सभी वातोंमे संयम था और आजकलके कालेज-होस्टलोंकी तरह विलासिता और स्त्री-पुरुषकी परस्पर कामवृत्ति जगानेवाले साधन वहाँ नहीं थे। इतनेपर भी कच-देवयानीके इतिहासके अनुसार कहीं-कही आकर्षण होनेकी सम्भावना थी ही। अतः आजकलकी सहशिक्षाका समर्थन इससे कदापि नहीं हो सकता।

सिनेमा

सिनेमा भी आजकलकी सभ्यताका एक अंग है, और शिक्षित स्त्री-पुरुष सभ्यताके सभी अंगोंमे प्रवेश करना चाहते है, अतएव स्वाभाविक ही इधर भी उनका प्रवेश खूब हो रहा है। निःसन्देह चित्रपट एक कला है, और संयमी सदाचारी तथा निःस्वार्थ पुरुषोंके द्वारा इसका सदुपयोग हो तो इससे मनोरञ्जनके साथ ही वहुत कुछ उपकार भी हो सकता है। परन्तु उपकारकी जितनी सम्भावना है उससे अधिक अपकारकी है। जन्म-जन्मान्तरके बुरे संस्कारोंके कारण प्रायः मनुष्य बुरी वातोंको जितनी जल्दी ग्रहण करता है, उतनी अच्छी वातोंको नहीं करता। कथानक अच्छे-से-अच्छा हो, सव वातें शिक्षाप्रद हों तथापि उसमे कुछ-न-कुछ तो शृङ्गार-रस रखना ही पड़ेगा। जहाँ स्त्रियोंके पार्ट पुरुष करते हो वहाँ तो विशेष आपत्तिकी वात नहीं है, परन्तु जहाँ स्त्रियोंके पार्ट स्त्रियाँ करेंगी, वहाँ, वे चाहे कितने ही उच्च घरानेकी हो, और पुरुष पात्र कितने ही सच्चरित्र

हों, नित्यके सङ्गसे उनके द्वारा प्रमाद होनेकी सम्भावना है ही। नर और नारीके शरीरोकी प्रकृतिने रचना ही ऐसी की है कि उनमें परस्पर शारीरिक मिलनकी इच्छा उत्पन्न हो ही जाती है! फिर युवावस्थामे तो यह मिलनेच्छा वडी तीव्र होती है, ऐसी अवस्थामे नित्य साथ रहकर, शृङ्गारके पार्ट कर-कर पद्मपत्रवत् निर्लेप बने रहना असम्भव-सा ही है। नित्यके अबाध सङ्गमे इन्द्रियसंयम बना रहना मामूली बात नही है। बड़े-बड़े वनवासी फलमूलाहारी तपस्वी, महान् विद्वान् और ऊँचे साधक भी तीव्र आकर्षणके प्रभावसे जब इन्द्रियोके वश हो जाते है तब शृङ्गारकी लीलाभूमि सिनेमामे रहनेवाले जवान उम्रके साधारण अभिनेताओ और अभिनेत्रियोकी तो बात ही कौन-सी है! इस भारी पतनकी आशंका तो सिनेमा-जगत्मे पर्याप्त सुधार—जिसकी आशा नही है—होनेपर भी रहेगी ही; वर्तमान सिनेमाओंमे तो पद-पदपर सबके पतनके लिये गहरी खाइयाँ खुदी है। गंदे गाने, अश्लील मजाक, अर्द्धनग्नावस्थाके नाच, शृङ्गारसे पूर्ण कथानक, मिस कहलानेवाली एक्ट्रेसोके गंदे हावभाव सभी चीजें नरकके दरवाजे है। चित्रपट इस समय धन कमानेका पूरा साधन बन गया है; अधिक-से-अधिक धन कमाना ही सञ्चालकोंका उद्देश्य है। करोड़ोकी पूँजी लगाकर व्यापारी इस क्षेत्र-में धन कमानेके लिये कूद पड़े हैं। कलाका विकास और शुद्ध भावोंका प्रचार प्रायः किसीका उद्देश्य नही है। इसीलिये जिन-जिन सामग्रियोसे जनता अधिक आकर्षित होती है, उन्हीको एकत्रकर प्रदर्शन करना सिनेमा-सञ्चालकोका कर्तव्य हो गया है।

फिर चाहे उनसे जनताकी रुचि बिगड़े, वह आचरणभ्रष्ट हो और सदाके लिये नरकके गढ़ेमे क्यो न गिर पडे। जनताके पतनकी जिम्मेदारीका खयाल किसीको नहीं है। ध्यान है तो केवल धनका है। और यह धनका ध्यान केवल सञ्चालकोंको ही नही है, सिनेमाओंसे संलग्न प्रायः सभी लोगोंको है। नही तो गंदे साहित्यके द्वारा गंदे फिल्म कैसे बनते और क्योकर उनका प्रदर्शन सम्भव होता? खेदकी वात है कि इस समय भले घरोकी शिक्षिता कहलानेवाली महिलाएँ भी अपनी आर्योचित उच्च कुल-मर्यादाको त्यागकर सिनेमाओमे परपुरुषोके साथ मिलकर अभिनय करनेमे गौरवका अनुभव तथा उन्नतिका गर्व करने लगी हैं। यह पतनका प्रत्यक्ष चिह्न है। पता नहीं, वे किसी भुलावेमें आकर ऐसा कर रही है या कलाकी आड़मे आर्थिक प्रलोभनमे पड़कर! अभी कुछ दिनो पहले एक एक्ट्रेसका अनुभव पत्रोमे छपा था; उसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि एक्ट्रेस बनकर सिनेमामे अभिनय करनेवाली नारियोंका चरित्रवान् रहना अत्यन्त ही कठिन है। प्रायः यही हाल पुरुष एक्टरोका समझना चाहिये। अधिकांश सञ्चालकोके लिये भी कुसंगतिका शिकार होना अनिवार्य है। समाजका दुर्भाग्य है कि स्कूलकालेजोके छात्र-छात्राओका सिनेमा-शौक दिनोंदिन बढ़ रहा है और वे बुरी तरह कुप्रवृत्तियोके शिकार हो रहे है। सिनेमाके साथी शराब और वेश्याओके फेरमे पडकर उनका सर्वनाश हो रहा है। गतवर्ष कुछ धर्मशीला युवती स्त्रियोंने पूछा था कि हमारे शिक्षित पति हमे जबरदस्ती

सिनेमाओंमे और क्लबोंमें ले जाकर गंदे खेल दिखलाना और मांस-शराब खिलाना-पिलाना चाहते है, ऐसी अवस्थामें हम क्या करें !!

आजकल पत्रोके द्वारा भी इन सिनेमाओके प्रचारमे काफी सहायता मिल रही है। विज्ञापनोंकी आमदनीके प्रलोभनसे पत्र-पत्रिकाओके सञ्चालक-सम्पादकगण भी सिनेमासम्बन्धी साहित्य और सिनेमाके पात्र-पात्रियोंके चित्र खास करके पात्रियोंके आकर्षक चित्र छापकर जनताका चित्त उधर खींच रहे है। मैं अपने सम्मान्य पत्र-सम्पादक भाइयोंको उनके नैतिक दायित्वकी बात याद दिलाकर प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे इस ध्वंसकारी प्रवाहके रोकनेमे सहायक हो। जो साहित्य कोमलमति बालकोंके और प्रबल इन्द्रियोके वेगको न सह सकनेवाले अनुभवहीन नयी उम्रके युवक-युवतियोके हृदयमे कलाके नामपर जघन्य वृत्तियोको जागृत कर देता है, जो उनके हृदयमें कुवासना और कुप्रवृत्तियोकी आग सुलगाकर उसमे बार-बार ईधन डालकर उसे भड़काता है, वह साहित्य कदापि हितकर नही हो सकता। समाजरूपी वाटिकामे खिलते हुए तरलमति युवक-युवतियोंके कोमल हृदयमेंसे दैवी सद्भावोको हटाकर उनकी जगह आसुरी भावोंको पैदाकर उसमे नरककी आग जला देनेवाली कला तो प्रत्यक्ष काल ही है। साहित्यकारोंको चाहिये कि नवयुवक और नवयुवतियोके सामने पवित्र वस्तुएँ रक्खें। उनके हृदयमे वीरता, धीरता, संयम और सदाचारकी वृद्धि हो, ऐसा साहित्यामृत उन्हे पिलावें। हमारी प्राचीन गुरुकुलकी शिक्षापद्धतिके अनुसार तो किसी भी छात्र युवकके सामने शृङ्गारी साहित्य नही आना चाहिये। मलयसमीर,

मधुयामिनी, कुसुमसायक और नायक-नायिकाओंके तथा कामकला-के भेद जाननेकी उन्हें आवश्यकता नहीं है। उनके सामने तो पवित्र इन्द्रियसंयमका पाठ रखना चाहिये। क्या मैं आशा करूँ कि कृपालु साहित्यिक महानुभाव मेरी इस प्रार्थनापर नाराज न होकर सच्चे हृदयसे कुछ ध्यान देंगे? मुझे तो ऐसा लगता है कि वर्तमान चित्रपट एक प्रकारका मधुर विष है, जो समाजशरीरमें सुखपूर्वक पहुँचकर अंदर-ही-अंदर बड़े जोरसे फैल रहा है और उसे विषाक्त कर रहा है। स्त्रियोंको खास तौरपर इस विषयसे बचना चाहिये था; परन्तु खेद है कि आज वही खास तौरपर इसका शिकार बनने जा रही है।

शिक्षा कैसी हो?

तब क्या बालकोंको शिक्षा नहीं देनी चाहिये? यह कौन कहता है? शिक्षा तो जरूर देनी चाहिये; परन्तु बालकोंको वैसी शिक्षा देनी चाहिये जिससे उनमें ईश्वरभक्ति, धर्म, सदाचार, त्याग, संयम आदिका विकास हो—वे ईश्वरसे डरनेवाले, आत्मामें विश्वास करनेवाले, वीर, धीर और परदुःखकातर यथार्थ मनुष्य बनें। और इसीके साथ-साथ वे अन्यान्य सभी आवश्यक बातोंको भी सीखें। खर्चीली शिक्षा कम हो जाय तो अच्छा है, परन्तु उसकी सम्भावना बहुत कम मालूम होती है। विचारशील विद्वानोंको इस ओर विशेषरूपसे ध्यान देकर शिक्षाके सुधारका कोई क्रियात्मक उपाय शीघ्र-से-शीघ्र शोधना चाहिये।

कन्याओंके लिये तो जहाँतक हो सके मेरी तुच्छ सम्मतिमें पाश्चात्य शिक्षाका मोह छोड़ देना ही उत्तम मालूम होता है।

कन्याओको घरोमे माता-पिता पढ़ावें और विवाह होनेपर उन्हे पति पढ़ावें। स्त्रियोके लिये घर ही विश्वविद्यालय है। याद रखना चाहिये कि विदेशी भाषामें बी० ए०, एम० ए० हो जाना कोई खास विद्या नही है। परायी भाषा सीखकर ही कोई स्त्री विदुषी नही हो जाती, इसीसे उसमे कोई गुण नही आ जाता। विदेशी भाषा सीखनेमे भी आपत्ति नही होती यदि उससे कोई हानि न होती। परन्तु अपनी शुद्ध संस्कृतिका बलिदानकर उसके बदले विदेशी भाषा सीखकर शिक्षिता कहलाना तो बहुत ही घाटेका सौदा है। जो शिक्षा हमारे युवकोका कोई भला न कर सकी, उससे हमारी बहिन-बेटियोका क्या कल्याण होगा? मेरी समझसे इस शिक्षाके फलस्वरूप स्त्रियोंमे जो नवीन सामाजिक प्रयोग शुरू हुए है, उनसे भी उनकी और समाजकी नैतिक और धार्मिक दोनो ही दृष्टियोंसे यथेष्ट हानि हुई है और हो रही है तथा यह हानि कदापि हमे वाञ्छनीय नही है और न होनी चाहिये। इससे मेरा यह अभिप्राय नही है कि स्त्रियोको पढ़ना-पढाना नही चाहिये। द्रौपदी बड़ी विदुषी थी, राज्यका सञ्चालन कर सकती थी और लड़ाईकी मन्त्रणा-सभामे भी वह रहती थी, परन्तु वह आदर्श सद्‌गृहिणी भी थी। अहल्याबाई विदुषी और धर्म-शीला थी। अतएव सद्‌गृहिणी होकर ही स्त्रियाँ विदुषी बनें। ऐसी ही पढ़ाईकी आवश्यकता है। जबतक ऐसी पढ़ाईकी व्यवस्था न हो तबतक युनिवर्सिटियोकी निरर्थक ही नही, वरं अत्यन्त हानिकर वर्तमान उच्च (?) स्त्री-शिक्षासे स्त्रियोका अलग रहना ही समाजके लिये हितकी बात है। जो शिक्षा स्त्रियोके स्वाभाविक

गुण मातृत्व, सतीत्व, सद्गृहिणीपन, शिष्टाचार, स्त्रियोचित हार्दिक उपयोगी सौन्दर्य-माधुर्यको नष्ट कर देती है, उस शिक्षाकी अपेक्षा तो उनका अशिक्षिता रहना कहीं अच्छा है। जिस विद्यासे सद्गुण रह सकें और बढ़ सकें, उसी विद्याको पढ़ाकर नारियोंको विदुषी बनाना चाहिये, और इसकी आवश्यकता भी है। क्योकि सद्गुणोंका विकास और उनके उचित प्रयोगोके द्वारा यथेष्ट लाभ सद्विद्यासे ही हो सकता है। परन्तु जिस विद्याके प्रभावसे सद्गुण नष्ट होते हों, वह विद्या तो हानिकर ही है। ऐसी हालतमें तो सद्गुणोको बचानेके लिये विद्याका मोह छोड़ देना ही बुद्धिमानी है। आजकल जिस प्रकारकी स्त्रीशिक्षाका प्रचार हो रहा है, उससे तो समाजका अमङ्गल ही दिखायी देता है।

नम्र निवेदन

उपर्युक्त विवेचनमे वर्तमान शिक्षाके कुफलका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। ऐसे और भी बहुत-से दोप इस शिक्षासे पैदा हुए है, जिनका उल्लेख नहीं हो सका है। उदाहरणार्थ उनमे एक दोप भेदभाव और परस्पर वैमनस्यकी वृद्धि है। इस शिक्षाके प्रतापसे खानपान और विवाह-शादी आदिमें उचित भेदको मिटानेवाली नामकी राष्ट्रीयता तो बढ़ी है, परन्तु पारस्परिक प्रेम और सौहार्द बुरी तरहसे घट गया है। जैसे यूरोपकी देशभक्ति (Patriotism) मे विश्वहितकी तो बात ही क्या, पड़ोसी राष्ट्रके हितकी भी परवा नहीं है, वैसी ही विश्वहित-विरोधिनी संकुचित देशभक्तिका प्रचार यहाँ भी हो रहा है।

आज जातिभेद मिटानेकी तो बाते हो रही है परन्तु प्रत्येक जाति-उपजातिका भेद मजबूतीसे कायम रखनेके लिये प्रतिद्वन्द्विताके भावोसे पूर्ण जातीय कान्फरेंसोंकी बाढ़-सी आ गयी है और सभी अपना-अपना अलग स्वत्व कायम करना चाहते हैं। समस्त भारतवासियोके एकस्वार्थ होनेकी बात तो दूर रही, आज हिन्दू-हिन्दूमे और मुसलमान-मुसलमानमें भी वस्तुतः एकस्वार्थकी भावना नहीं रही है। हिन्दुओंमे तो जैन, सिख, आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज आदि अनेक नये-नये भेद हो गये हैं और उनकी संख्या क्रमशः बढ़ती जा रही है। सैकड़ों जातियों-उपजातियोमेंसे एक-एक उपजातिके अलग-अलग अनेकों भेद हो गये है और सबकी स्वार्थदृष्टि अलग-अलग हो गयी है। अग्रवाल-सभा, अग्रवाल-पंचायत, अग्रवाल-युवक-मण्डल, माहेश्वरी-डीडूपंचायत, माहेश्वरी-महासभा आदि-जैसी सैकड़ों विभिन्न संस्थाएँ इसका प्रमाण है। पहले एक वैश्य-सभा थी, अब वैश्यवर्णके अन्तर्गत विभिन्न उपजातियोंकी न मालूम कितनी सभाएँ है। अधिक क्या, किसी दिन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' या 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के आदर्शको माननेवाली जातिके महान् आदर्शको नष्ट करके आजकी इस शिक्षा-प्रणालीने स्त्री-पुरुष (दम्पति) में भी पृथक्-पृथक् स्वार्थकी भावना उत्पन्न करके उन्हे लड़ाईके मैदानमे लाकर खड़ा कर दिया है ! अभेदके नामपर ऐसा विनाशकारी भेद फैल गया है कि आज हम अपने अकेले व्यक्तित्वकी रक्षा और उसीके पोषणमें जीवन विताना कर्तव्यकी चरम सीमा समझने लगे है !! सभी विचारशील पुरुष इन दोषोंको जानते और अनुभव करते है, और यथासाध्य इन्हे दूर करनेका प्रयत्न भी कर रहे हैं; तथापि मै

एक बार पुनः सभी शिक्षाप्रचारक और शिक्षाप्रेमी महानुभावोसे विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि वे इस विषयपर और भी गम्भीरतासे विचार करें और शिक्षाप्रणालीमे यथासाध्य तुरन्त परिवर्तन करने-करानेका प्रयत्न करें। मेरी तुच्छ सम्मतिमे नीचे लिखी बातोंपर ध्यान देनेसे शिक्षाप्रणालीके बहुत-से दोष नष्ट हो सकते हैं और शिक्षाके असली उद्देश्यकी किसी अंशमे पूर्ति हो सकती है।

१—पाठ्य पुस्तकोंमे हमारी प्राचीन आर्यसंस्कृतिका सच्चा महत्त्व बतलाया जाय, पौराणिक और ऐतिहासिक महापुरुषोके जीवनकी प्रभावोत्पादक और शिक्षाप्रद घटनाओका सच्चा वर्णन रहे और प्राचीन संस्कृत ग्रन्थोके उपयोगी अंशोंका समावेश किया जाय।

[याद रखना चाहिये कि जिस जातिकी अपनी संस्कृति, अपने महापुरुष और अपने सत्-साहित्यपर अश्रद्धा हो जाती है, वह जाति प्रायः नष्ट हो जाती है। वर्तमान शिक्षाने ऐसे विलक्षण ढंगसे यह काम किया है कि हम उसे उन्नति समझ रहे हैं और हो रहा है हमारा सर्वनाश! इस शिक्षाके प्रभावसे आज अपनी संस्कृतिमे, अपने पूर्व-पुरुषोमे और अपने प्राचीन साहित्यमे हमारी श्रद्धा नही रही है। और इसके बदले पाश्चात्य सभ्यता, यूरोपके महापुरुष और उनके साहित्यपर हमारी श्रद्धा हो गयी है। मेरे कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि कहीकी भी अच्छी चीजका आदर न किया जाय। आदर तो अवश्य करना चाहिये, परन्तु इतनी आत्मिक गुलामी तो नही होनी चाहिये कि हमारे घरकी चीजकी ओर हम देखें ही नही, कभी देखें तो उपेक्षासे या घृणाकी दृष्टिसे; और वही

चीज विदेशी विद्वानोंकी लेखनीसे प्रशंसित होकर उनके द्वारा विकृत-रूपमें हमारे सामने आवे तब हम उसीको सिर चढाने लगें ।]

२—ईश्वर और धर्मके ठोस संस्कार बालकोंके हृदयोंमे जमे, ऐसी बातें पाठ्य पुस्तकोमें अवश्य रहें । गीता-जैसे सर्वमान्य ग्रन्थको उच्च शिक्षामे रक्खा जाना चाहिये ।

३—सदाचार और दैवी सम्पत्तिको बढ़ानेवाले उपदेश सदाचारी और दैवीसम्पत्तिसम्पन्न पुरुषोके चरित्रसहित पाठ्य पुस्तकोमें रहे और उनका विशेपरूपसे महत्त्व बतलाया जाय ।

४—धार्मिक शिक्षाकी स्वतन्त्र व्यवस्था भी हो जिसमे १ ईश्वर-भक्ति, २ माता-पिताकी भक्ति, ३ शास्त्रभक्ति और देशभक्ति ४ सत्य, ५ प्रेम, ६ ब्रह्मचर्य, ७ अहिंसा, ८ निर्भयता, ९ दानशीलता, १० निष्कपट व्यवहार, ११ परस्त्रीको माँ-बहिन समझना, १२ किसीकी निन्दा न करना, १३ किसी भी दूसरे धर्म या धर्माचार्यको नीची निगाहसे न देखना, १४ आजीविका आदिके कार्योंमे छल, कपट और चोरीका त्याग, १५ शारीरिक श्रम या मेहनतकी कमाईका महत्त्व, और १६ सबसे प्रीति करना—इन १६ गुणोपर विशेष जोर दिया जाय। और बालकोंके हृदयमे इनके विकास और विस्तार करनेकी चेष्टा की जाय । प्रतिदिन पढाई आरम्भ होनेके समय सब अध्यापक और विद्यार्थी मिलकर ऐसी ईश्वरप्रार्थना करें, जिसके करनेमें किसी भी धर्मके बालकको आपत्ति न हो ।

५—अवतारो और महापुरुपोकी जन्मतिथियोपर उत्सव मनाये जायँ और उनके जीवनकी महत्त्वपूर्ण बातोपर प्रकाश डाला जाय ।

६—खान-पानकी शुद्धि और संयमके महान् लाभ बालकोको समझाये जायँ।

७—किसी भी पाठ्य पुस्तकमे खुले शृंगारका वर्णन न हो। ऐसा कोई काव्य या नाटक पढ़ाना आवश्यक हो तो उसमेसे उतना अंश पढाईके क्रमसे निकाल दिया जाय। [मैने सुना है कि कई पाठ्य पुस्तकोके ऐसे पाठ अच्छे अध्यापक अपने विद्यार्थियोको नही पढ़ा सकते; और बालिकाओंको तो, वैसा पाठ आ जानेपर विचारशील प्रोफेसर जितने दिनोंतक वह पाठ चलता है, उतने दिनोके लिये उस पीरियडमे अनुपस्थित रहनेकी अनुमति देनेको बाध्य होते है।]

८—साम्प्रदायिक विद्वेष बढ़ानेवाली बातें किसी भी पाठ्य पुस्तकमे नही रहनी चाहिये।

९—विलासिता और फिजूलखर्चीके दोष पाठ्य पुस्तकोमे बतलाये जायँ। जहाँतक हो विद्यार्थियोका जीवन अधिक-से-अधिक सादा और निर्मल रहे, ऐसी चेष्टा हो।

१०—जहाँतक हो शिक्षा देशी भाषामें देनेकी व्यवस्था की जाय।

११—अध्यापक और छात्रावासके व्यवस्थापक ऐसे सज्जन हो जो स्वयं सदाचारी, धार्मिक, ईश्वरमे विश्वासी, विलासिताके विरोधी, और मितव्ययी हो। (याद रहे, अध्यापको और व्यवस्थापकोंके चरित्रका प्रभाव बालकोपर सबसे अधिक पड़ता है।)

१२—सभी शिक्षालयोंमे कुछ-न-कुछ हाथकी कारीगरीका काम जरूर सिखाया जाय, जिससे कालेजोंसे निकले हुए विद्यार्थी शारीरिक परिश्रम तथा कारीगरीका काम हाथसे करनेमे सकुचावे नहीं, वरं सम्मानका अनुभव करे।

१३—छात्रावास बहुत सादे और संयमके नियमोसे पूर्ण हों। वहॉ विद्यार्थीगण यथासाध्य सभी काम हाथसे करें, जिससे घर आनेपर हाथसे काम करना बुरा न मालूम हो। तन-मनसे पवित्र रहनेकी आदत डाली जाय। शरीरकी सफाई देशी तरीकेसे की जाय। अवकाशके समय कथा आदिकी व्यवस्था हो।

१४—जहॉतक हो, स्कूल-कालेज प्राकृतिक शोभायुक्त स्थानोंमे हो, खास करके पवित्र नदीके तटपर; उनमे यथासाध्य खर्चीला सामान, विदेशी फैशनका फरनीचर आदि न रहे।

१५—माता-पिता-गुरुके प्रति आदर-बुद्धि हो, उनका सेवन और पोषण करना कर्तव्य समझा जाय, किसीका भी अनादर न हो, किसीका मखौल न उड़ाया जाय। ऐसी शिक्षा बालकोको दी जाय।

१६—लड़के-लड़कियोको एक साथ बिल्कुल न पढ़ाया जाय।

१७—लडकियोके पढानेके लिये सदाचारिणी और सद्गृहस्था अध्यापिका ही रहे, और कन्यापाठशालाओंकी पढाई स्वतन्त्र रहे तथा पढाईका समय भी गृहस्थकी सुविधाके अनुकूल हो।

१८—लड़कियोकी शिक्षामे इस बातका प्रधानरूपसे ध्यान रक्खा जाय कि बड़ी होनेपर उनके सतीत्व, मातृत्व और सद्-गृहिणीपनका नाश न होकर पूर्ण विकास हो।

१९—आर्य संस्कृतिके अनुकूल सद्व्यवहार, सेवा-शुश्रूषा और आहार-व्यवहारकी शिक्षा पाठ्य पुस्तकोमे रहे ।

२०—सात्त्विक त्याग, तितिक्षा और सात्त्विक दानकी शिक्षा दी जाय ।

२१—बलका संचय और सदुपयोग करना सिखाया जाय ।

क्षमाप्रार्थना

दोष देखना एक घृणित कार्य है, और इसलिये कर्तव्यवश इस कार्यको करनेवाला मै अपना दोष स्वीकार करता हूँ और उन महानुभावोसे सविनय क्षमा चाहता हूँ जिनको इस लेखके पढनेपर कुछ भी मेरा अपराध जान पडे । एक बात और है । इस लेखसे मेरा यह मतलब कदापि नही है कि मैं पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त पुरुष और स्त्रीमात्रको ही उपर्युक्त दोषोसे युक्त मानता हूँ । मुझे ऐसे बहुत-से नररत्नो और पूज्य पुरुषोसे परिचय करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है जो इस शिक्षामें बहुत आगे बढे हुए होनेपर भी सब तरहसे आदर्श है और तपस्वी जीवन बिता रहे है । ऐसी माताओ और बहिनोंको भी मै जानता हूँ जो पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त होनेपर भी परम सती-साध्वी है और ईश्वर, धर्म तथा सदाचारमे परम श्रद्धा रखती है । परिचय तो थोडोसे ही होता है । मुझसे अपरिचित पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त पुरुषोमे ऐसे अनेको शुद्ध संस्कारी महानुभाव और अनेको पवित्रहृदया बहिनें होंगी जिनके सामने मुझे श्रद्धापूर्वक सिर झुका देना चाहिये; परन्तु मेरी समझसे इनमे

अधिकांश वही है जो अधिक उम्रके है या जो सौभाग्यसे घरके या सत्संगके शुद्ध वातावरणमे रहे है और माता-पिताके शुद्ध आदर्श-को लड़कपनमें देखा है। तरुणवयस्क आजके छात्रो और छात्राओमे तो ऐसे पुरुषो और स्त्रियोकी संख्या क्रमशः घटती ही जा रही है, यह सभी स्वीकार करेंगे और प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी यही सिद्ध है।

मै जानता हूँ कि शिक्षाक्षेत्रके पूज्य पुरुप और मनीषीगण इनसे भी अच्छी-अच्छी बातोको सोचते-विचारते है, और उन्हे कार्यरूपमे परिणत करनेकी चेष्टा भी करते है। कहना सहज है, परन्तु परिस्थितिका सामना करते हुए वैसा करना बहुत ही कठिन है, इस बातका भी मै अनुभव करता हूँ तथापि अपनी ओरसे बालककी भॉति पूज्य पुरुषोके चरणोमे नम्रताके साथ विचारार्थ उपर्युक्त बातें रखता हूँ। आशा है वे मेरी इस अनधिकार चेष्टा और धृष्टतापर क्षमा करेंगे।

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा लिखित, अनुवादित और सम्पादित पुस्तकें

विनय-पत्रिका–सरल हिन्दी-भावार्थसहित, ६ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ ४७८, मू० १) सजिल्द १।) मात्र।

नैवेद्य–२८ लेख और ६ कविताओका सुन्दर सचित्र संग्रह। पृष्ठ ३५०, मूल्य घटाकर ॥) सजिल्द ॥≥) कर दिया है।

तुलसीदल–२३ लेख और ४ कविताओका मनोहर सचित्र सग्रह। पृष्ठ २९५, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≥) दूसरा नवीन संस्करण है।

उपनिषदोंके चौदह रत्न–चुनी हुई उपनिषदोंकी चौदह कथाएँ, १० चित्र, १०२ पृष्ठ, मू० ।=) मात्र, लागतसे भी कम है। नयी ही छपी है।

प्रेमदर्शन–श्रीनारदरचित भक्तिसूत्रकी विस्तृत टीका, ३ चित्र, २०० पृष्ठ, मूल्य केवल ।–) मात्र, छपाई, कागज बढिया।

भक्त बालक–५ चित्र,एण्टिक कागज, पृष्ठ ८०, १५००० छप चुकी है, मू० ।–); इसमे गोविन्द, मोहन, धन्ना, चन्द्रहास और सुधन्वाकी कथाएँ है।

भक्त नारी–६ चित्र, एण्टिक कागज, पृष्ठ ८०, १५००० छप चुकी है, मू० ।–); इसमे शबरी, मीराबाई, जनाबाई, करमैतीबाई और रबियाकी कथाएँ है।

भक्त-पञ्चरत्न–६ चित्र, एण्टिक कागज, पृष्ठ ९८, १५२५० छप चुकी है, मू० ।–); इसमे रघुनाथ, दामोदर, गोपाल, शान्तोबा और नीलाम्बरदासकी कथाएँ है।

आदर्श भक्त–७ चित्र, एण्टिक कागज, पृष्ठ १११, मू० ।–); इसमे शिवि, रन्तिदेव, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन, सुदामा और चक्रिककी कथाएँ हैं ।

भक्त-चन्द्रिका–सुन्दर ७ चित्र, एण्टिक कागज, पृष्ठ ९६, मू० ।–), इसमे साध्वी सखूबाई, महाभागवत श्रीज्योतिपन्त, भक्तवर विठ्ठलदासजी, दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर गाथाएँ है ।

भक्त-सप्तरत्न–७ चित्र, एण्टिक कागज, पृष्ठ १०५, मू० ।–); इसमे दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और सालबेगकी कथाएँ है ।

भक्त-कुसुम–६ चित्र, एण्टिक कागज, पृष्ठ ९१, मू० ।–); इसमे जगन्नाथदास, हिम्मतदास, बालीग्रामदास, दक्षिणी तुलसीदास, गोविन्ददास और हरिनारायणकी कथाएँ है ।

प्रेमी भक्त–७ चित्र, एण्टिक कागज, पृष्ठ १०३, मू० ।–); इसमे बिल्वमङ्गल, जयदेव, रूपसनातन, हरिदास और रघुनाथदासकी कथाएँ है ।

यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ–३ चित्र, पृष्ठ-संख्या ९२, मूल्य ।); इसमे साध्वी रानी एलिज़ाबेथ, साध्वी कैथेरिन, साध्वी गेयो और साध्वी लुइसाकी सुन्दर उपदेशप्रद जीवनियाँ हैं ।

कल्याणकुञ्ज–उत्तम उपदेशमय वाक्योंका सुन्दर संग्रह, सचित्र, पृष्ठ १६४, मूल्य ।) मात्र । नयी ही छपी है ।

मानव-धर्म–धर्मके दश लक्षणोकी सुन्दर व्याख्या, पृष्ठ ११२, मू० ≡) मात्र, तीसरा संस्करण ।

साधन-पथ–परमार्थ-साधन-सम्बन्धी उपयोगी बातोका संग्रह, १५००० छप चुकी है, सचित्र, पृष्ठ ७२, मू० =)॥ मात्र ।

भजन-संग्रह–भाग ५ वॉ (पत्र-पुष्प) २ चित्र, १६० पृष्ठ, कई हजार छप चुकी है । मू० =)

स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी–(सातवॉं सस्करण) स्त्रियोंके जाननेयोग्य बहुत-सी अच्छी-अच्छी शिक्षाकी बातें लिखी हैं । कई हजार छप चुकी है । मूल्य =)

आनन्दकी लहरें–सचित्र, सुन्दर विचारपूर्ण मननयोग्य वाक्योंका सग्रह, मू० -)॥, १८२५० छप चुकी है ।

गोपी-प्रेम–(यह लेख 'तुलसीदल' मेंसे लिया गया है) सचित्र, पृष्ठ ५०, मू० -)॥ मात्र ।

मनको वश करनेके कुछ उपाय–सचित्र, छठा संस्करण, मू० -)।

ब्रह्मचर्य–इस विषयपर सुन्दर निबन्ध है, छठा सस्करण, मू० -)

समाज-सुधार–पढ़ने योग्य है । पृ० ४०, मू० -) चौथा संस्करण ।

वर्तमान शिक्षा–आपके हाथमे ही है ।

नारदभक्तिसूत्र–सार्थ मू०)। मात्र ।

दिव्य सन्देश–मू०)। मात्र

पता–**गीताप्रेस, गोरखपुर ।**
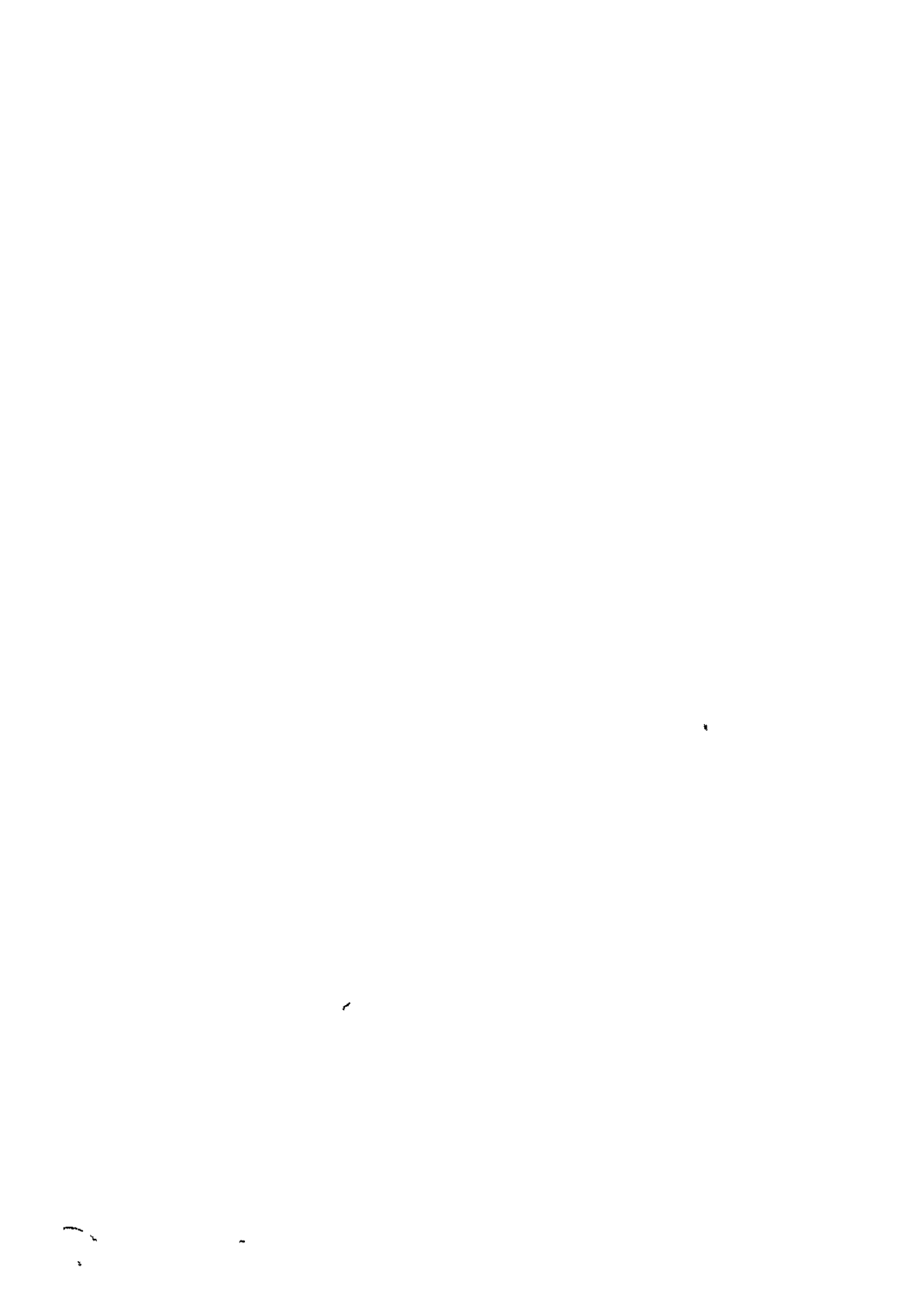
नोट–पुस्तकों और चित्रोंका बडा सूचीपत्र मुफ्त मॅगवाइये ।

तत्व
विचार
लेखक
ज्वाला प्रसाद कानोड़िया

तत्व
विचार
लेखक
ज्वाला प्रसाद कनोडिया

मुद्रक तथा प्रकाशक—
घनश्यामदास जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर।

सं० १९९२
प्रथम संस्करण ३२५०
मूल्य ।=) छः आना

पता—
गीताप्रेस, गोरखपुर।

श्रीहरिः

निवेदन

'तत्त्वविचार' मेरे सम्मान्य भाई श्रीज्वालाप्रसादजीके कुछ लेखोका संग्रह है। मेरे ही आग्रहसे आपने प्रायः इन लेखोको लिखा था और अब मेरे ही आग्रहसे बडे संकोचमे पड़कर उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित करनेकी आज्ञा देनेके लिये आपको विवश होना पडा है। श्रीज्वालाप्रसादजी अपनेको लेखक नही मानते। और लेखककी हैसियतसे पाठकोके सामने उपस्थित होनेमे अपनी अयोग्यता प्रकट करते हुए पाठकोसे क्षमा चाहते है। यह बात सत्य भी है कि वे लेखक नही है, वे विचारशील पुरुप है, और मेरे मतसे उनके सुन्दर विचारोको पाकर कोई भी लेखक सुलेखक वन सकता है। पाठक इस पुस्तकमे प्रकाशित विचारोको पढकर लाभ उठावें, ऐसी मेरी प्रार्थना है।

मेरे कहनेपर श्रीज्वालाप्रसादजीने इसके लिये एक छोटी-सी संकोचभरी भूमिका लिख भेजी थी, परन्तु वह मुझको पसंद नही आयी। इसलिये उनके भावोंके साथ कुछ अपने भाव मिलाकर मैने ही उपर्युक्त परिचय लिख दिया है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

विषयसूची

विषय पृष्ठसंख्या

बाललीला

श्रीहरिः

ईश्वरतत्त्व

ध्येयं वदन्ति शिवमेव हि केचिदन्ये
शक्तिं गणेशमपरे तु दिवाकरं वै ।
रूपैस्तु तैरपि विभासि यतस्त्वमेव
तस्मात्त्वमेव शरणं मम चक्रपाणे ॥

(श्रीहरिशरणाष्टकात्)

जगत्मे प्रायः सभी ईश्वरवादी है । कुछ लोग तर्कवाद या विद्या-बुद्धिके गर्वसे अनीश्वरवादको सिद्ध करनेका प्रयास करते देखे जाते है । परन्तु अन्तमे ईश्वरकी सत्ता सिद्ध हो ही जाती है । यदि कोई कहे कि मेरे मुखमे जीभ नही है तो उसका यह कहना निराधार है, क्योकि उसके बोलनेसे ही जीभका होना सिद्ध है । इसी प्रकार यदि कोई यह कहे कि मेरे पिता हुए ही नही तो उसका यह कथन भी निराधार ही होगा; क्योकि जब वह है तो

अवश्य ही उसका जन्मदाता भी स्वतःसिद्ध है, चाहे वह उसको जाने या न जाने । यही बात ईश्वरके सम्बन्धमे है । जब कोई मनुष्य किसी घने जंगलमे जाकर देखता है कि वहाँ एक सुन्दर मन्दिर बना हुआ है और उसके समीप एक सुरम्य वाटिका लगी है, जिसमे नाना प्रकारके फल-फूलोके वृक्ष यथास्थान सुव्यवस्थित है, तथा जिसके एक ओर एक चिड़ियाखाना भी है, जिसमे विभिन्न प्रकारके पशु-पक्षी अलग-अलग विभागोमे पिंजड़ोमे बन्द है, ऐसी अवस्थामे उसे यह मानना ही होगा कि इन सबका बनानेवाला कोई अवश्य है । नियमित और सुव्यवस्थित कर्मके देखनेसे ही कर्त्ताका अनुमान होता है, यह स्वाभाविक है ।

प्राचीन वैदिक युगमे एक समय इस जगत्को देखकर कुछ ऋषियोके मनमे शङ्का हुई थी, उस समय उन्होने जो निर्णय किया था उसका वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद्मे इस प्रकार है—

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।
किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

(श्वेता० उप० १ । १)

अर्थात् ब्रह्मवादी कहते है, क्या ब्रह्म कारण है ? हम किससे जन्मे है ? किससे जीते हैं ? और किसमे लीन होते है ? हे ब्रह्मवेत्ताओ ! बताओ वह कौन अधिष्ठाता है जिसकी व्यवस्थासे हम सुख-दुःखोमे वर्तते है ? इसके बाद स्थूल दृष्टिसे दीख पड़नेवाले

मूलकारणोको प्रश्नकर्त्ता स्वयं शंकायुक्त शब्दोंमे कहता है और साथ ही उनका निराकरण भी करता है—

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावा-
दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥

(श्वेता० उप० १ । २)

अर्थात् क्या काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा अथवा पञ्चभूत कारण है, या जीवात्मा कारण है ? यह बात विचारणीय है । इनका संयोग भी कारण नही हो सकता, क्योकि ये अनात्मपदार्थ जड है । और जीवात्मा भी सुख-दुःखमे लिप्त रहनेके कारण सर्वशक्तिमान् नही है ।

'काल' शब्दका अभिप्राय यही है कि समस्त सृष्टिसम्बन्धी क्रियाएँ कालविशेषमे ही होती है; जैसे सभी वस्तुएँ अपनी ऋतुमे ही उत्पन्न होती, फलती-फूलती और नष्ट होती है । इसीलिये कारण-रूपमे कालका अनुमान किया गया है ।

पदार्थोंके स्वभावसे ही जगत्मे सारी क्रियाएँ होती देखी जाती है, जैसे अग्निका स्वभाव जलानेका है और जलका गलानेका इत्यादि, अतएव स्वभावको कारणरूपसे अनुमान किया गया है ।

'नियति' शब्दका अर्थ है होनहार । जैसे कोई मनुष्य पूर्ण सावधानीसे चला जा रहा है, अचानक वज्रपातसे उसकी मृत्यु हो जाती है और लोग कह उठते है—'होनहार ही ऐसी थी ।'

इसी प्रकार अकारण ही नियतिरूपमें समस्त क्रियाएँ होती है, नियतिको कारण कहनेवाले ऐसा बतलाते है ।

बिना चेष्टाके जो काम अपने आप हो जाय उसे यदृच्छा कहते है, जैसे बिना किसी चेष्टाके किसी वस्तुका बीज किसी सुनसान स्थानमे पहुँचकर वृक्षके रूपमे उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार यदृच्छासे जगत्का अस्तित्व है । ऐसा यदृच्छाको कारण माननेवाले कहते है ।

'भूतानि' शब्दसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन पञ्च महाभूतोका ग्रहण होता है और 'पुरुष' शब्द जीवात्माका द्योतक है ।

इस प्रकार कालादिको कारणरूपसे अनुमान करके उसका निराकरण भी इसी श्लोकमे कर दिया गया है । अर्थात् ये सब जड़ होनेके कारण कर्त्ता नही हो सकते, तथा जीवात्मा चेतन होनेपर भी अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् एवं सुख-दुःखका भोक्ता होनेके कारण कर्त्ता नही है । इस प्रकार मूलकारणका निश्चय न होते देख ऋषियोने ध्यानमग्न होकर देखा—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥
(श्वेता० उप० १ । ३)

अर्थात् तब उन लोगोने ध्यानयोगमे मग्न होकर अपने गुणो-से छिपी हुई परमात्मशक्तिको देखा, जो स्वयं काल, स्वभाव,

नियति, यदृच्छा, पञ्चभूत तथा आत्मारूप समस्त कारणोके एक ही कारणरूपमे अधिष्ठित है ।

इस प्रकार शास्त्रोमे जगत्की उत्पत्तिमें मूलभूत अन्य सब कारणोका निराकरण करके एकमात्र ईश्वरको ही आदिकारण सिद्ध किया है । इसपर यदि कोई कहे कि हम शास्त्रोकी बात नही मानना चाहते, तो उसे तर्क और युक्तिद्वारा भी ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करना पड़ेगा । जो नास्तिक विचारवाले जगत्की उत्पत्तिका मूल कारण प्रकृति (Nature) को मानते है, ईश्वरको नही मानते, उनसे यह पूछा जा सकता है कि 'सृष्टि सुव्यवस्थित, नियमित और ज्ञानपूर्वक है अथवा अव्यवस्थित, अनियमित और अज्ञानपूर्वक ?' इसका उत्तर यदि यह मिले कि वह अव्यवस्थित, अनियमित और अज्ञानपूर्वक है तो यह सर्वथा असङ्गत होगा, क्योकि लोकमें इसके विरुद्ध देखा जाता है । जगत्मे कोई भी कार्य अव्यवस्थित नही है, बल्कि जिस वस्तुकी जहाँ आवश्यकता है वही वहाँ रक्खी गयी है । जीवोके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे लेकर समस्त ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति सुव्यवस्थित और नियमित देखी जाती है । सूर्य, चन्द्र आदि समस्त ग्रहोका एक निर्दिष्ट गतिमे बर्तना, उनका क्रमानुसार उदय-अस्त होना, ऋतुओका नियमितरूपसे आना, अपने-अपने बीजसे वृक्ष और प्राणियोका उत्पन्न होना, पाप-पुण्यका यथोचित फल यथासमय बलात् प्राप्त होना, ब्रह्माण्डके समस्त स्थावर-जङ्गम जीवोके लिये जीवन-धारणोपयोगी जल, वायु, आहार आदिकी यथायोग्य व्यवस्था इत्यादि अनेक प्रकारकी सुव्यवस्थाएँ देखी

जाती हैं, जिनका कोई भी अस्वीकार नही कर सकता और न उन्हे अनियमित ही कह सकता है ।

जो व्यवहार प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर और ज्ञानगोचर होता है उसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, तथा जो कार्य नियमित और सुव्यवस्थित होता है वह ज्ञानपूर्वक ही माना जाता है और इस प्रकार उसका कर्ता भी अवश्य होता है । क्योकि अज्ञानपूर्वक और प्रकृतितः हुए कार्यमे व्यवस्था और नियम नहीं रह सकते । अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सुव्यवस्थित और सुनियमित सृष्टि ज्ञानपूर्वक होती है । इस प्रकार प्रकृतिको सृष्टिका मूल कारण माननेवालोको यह मानना पडेगा कि या तो प्रकृति (Nature) चेतन है या सचेतन ।

यदि प्रकृतिको चेतन मान लिया गया तो ईश्वरकी सत्ता स्वीकृत हो गयी । तब केवल नाममात्रका ही भेद रह जाता है अर्थात् नास्तिक उसी चेतन सत्ताको प्रकृति कहते है जिसे शास्त्र ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर प्रभृति नामोसे पुकारते है । केवल नामभेदसे वास्तविक भेद नही माना जाता; क्योकि जगत्मे देश, जाति, भाषा और सम्प्रदाय-भेदसे सृष्टिकर्ताको अनेक नामोसे सम्बोधन किया जाता है । और यदि पूर्वपक्ष प्रकृतिको चेतन न मानकर सचेतन मानता है तब भी अनीश्वरवाद सिद्ध नहीं होता, क्योकि चेतनायुक्त प्रकृतिको स्वीकार करना सविशेष परमात्माको स्वीकार करना है । शास्त्र भी कहते है कि प्रकृति जड है और पुरुष चेतन है, जड़-चेतनके संयोगसे जगत्की उत्पत्ति है ।

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥

(गीता १३ । २६)

अर्थात् हे अर्जुन ! जो कुछ भी स्थावर-जंगम वस्तु उत्पन्न होती है, उस सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हुआ ही समझ । तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुषके पारस्परिक सम्बन्धसे सम्पूर्ण जगत्की स्थिति है । अतएव सब प्रकारसे यह मानना पड़ता है कि सृष्टिका मूलकारण परमात्मा है ।

कोई-कोई मनुष्य ऐसा भी कहते है कि यदि ईश्वर है तो हम उसे देख क्यो नही पाते ? इसका उत्तर यह है कि जगत्मे ऐसी अनेक वस्तुएँ है जिनको हम प्रत्यक्ष नही देखते, पर उनकी सत्तामे निश्चितरूपेण विश्वास करते है । जैसे दूधमें व्यापक मक्खन, काष्ठमे स्थित अग्नि इत्यादिको हम प्रत्यक्ष नेत्रोसे नही देखते, पर इनके अस्तित्वमे हमें तनिक भी सन्देह नही होता और साधनके द्वारा हम इन्हे प्रकट करके प्रत्यक्ष भी देखते है । इस प्रकार जब सासारिक वस्तुओके प्रत्यक्ष न होनेपर भी उनका अस्तित्व माना जाता है तब ईश्वरके, जो युक्ति, अनुमान तथा शास्त्रसे सिद्ध है, अस्तित्वमे क्योकर सन्देह हो सकता है ? साथ ही ऐसे अनेक प्रमाण मिलते है जिनसे सिद्ध होता है कि साधनद्वारा ईश्वरका भी प्रत्यक्ष होता है ।

वस्तुतः अनित्य जागतिक पदार्थोंकी सत्ताके अनुरूप ईश्वर-की सत्ताको प्रमाणित करना ठीक नही है । क्योकि जितने

जागतिक पदार्थ है, जिनकी सत्तामे हमे दृढ विश्वास है तथा जो इन्द्रियगोचर भी है वे सभी मायिक, अनित्य, परिणामी, क्षणभंगुर और नाशवान् है । इसके विपरीत ईश्वर नित्य, सत्य, अपरिणामी और अविनाशी है । ईश्वरके इस विलक्षण रहस्यको धीर ज्ञानी पुरुष ही जान सकते है । श्रीभगवान् गीतामे स्वयं कहते है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(२ । १६)

अर्थात् असत् वस्तुका तो अस्तित्व नही है और सत्का अभाव नही है, इन दोनोका तत्त्व ज्ञानी पुरुषोद्वारा देखा गया है ।

तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष कहते है कि एक परमात्मा ही इस दृश्य जगत्का आधार और स्वरूप है अर्थात् वही इसका अभिन्न-निमित्तोपादानकारण है । अभिन्ननिमित्तोपादानकारण उसको कहते है जो स्वयं निमित्तकारण भी हो और उपादानकारण भी। घटका उपादानकारण मिट्टी है, और निमित्तकारण कुम्भकार, चक्र आदि है । वस्तु जिससे बनती है वह उपादान कहलाता है। वस्तु कार्यरूप होती है और उपादान कारणरूप होता है; जैसे मिट्टीसे घट आदि बनते है, इसमे घट कार्य है और मिट्टी उपादान-कारण है । घट वास्तवमे मिट्टी ही होता है, क्योंकि कार्य कारणसे भिन्न अथवा विजातीय नहीं होता । निमित्तकारण उसे कहते हैं जिसकी सहायतासे कार्यकी उत्पत्ति होती है । जैसे घटकी उत्पत्ति-में उपादानकारण मिट्टी है, परन्तु मिट्टी स्वयं घटरूप नहीं बन

जाती, बल्कि घटके बननेमे कुम्हार, चक्र आदिकी सहायता अपेक्षित होती है; अतएव यहाँ कुम्हार, चक्र आदि निमित्तकारण है। वेदान्तके अनुसार इस जगत्की उत्पत्तिमे परमात्मा स्वयं ही उपादान और निमित्त-कारण है, इसीलिये उसे अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण कहा जाता है। श्रुति कहती है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(बृह० उप० ५।१।१)

अर्थात् वह परम अक्षर सच्चिदानन्दघन परमात्मा पूर्ण है, यह जगत् (भी) पूर्ण है (क्योंकि) पूर्ण ब्रह्मसे (ही यह) पूर्णरूप जगत् निकलता है। यह पूर्ण जगत् पूर्ण ब्रह्म परमात्माको लेकर (पूर्ण ब्रह्म परमात्मामे ही अनन्य भावसे स्थित रहनेके कारण) पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है। तथा—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।

(छान्दो० उप० ३।१४।१)

अर्थात् 'यह सब ब्रह्म है क्योंकि उस ब्रह्मसे ही इस जगत्की उत्पत्ति है, उसीमे इसकी स्थिति है और उसीमे इसका लय होता है। अतएव शान्त होकर उस ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये।' इत्यादि अनेक वचनोंसे ईश्वर ही जगत्रूपमे प्रतीत होता है, यह बात सिद्ध होती है। परन्तु 'ईश्वरके अतिरिक्त और कुछ भी नही है' यह धारणा तत्त्वज्ञानके बिना नही हो सकती। तथापि शान्तिपूर्वक विचार करनेसे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि इस जीवका ईश्वरके साथ अनिर्दिष्ट कालसे एक अखण्ड सम्बन्ध चला आ

रहा है और उससे कोई भी जीव किसी प्रकार अलग नहीं हो सकता, क्योंकि जीव ईश्वरका ही अंश है ।

भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

(गीता १५ । ७)

अर्थात् इस देहमे जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है । गो०तुलसीदासजीने भी कहा है—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी । चेतन अमल सहज सुखराशी ॥

इसीलिये जीव अज्ञातरूपसे ईश्वरको मानता हुआ साधारणतः उसकी ओर आकर्षित भी होता है । जैसे सोया हुआ पुरुष जाग्रत्-अवस्थामे व्यवहृत वस्तु अथवा विशेष सम्बन्धवाले मनुष्यका नाम अज्ञानतः भी कभी-कभी बोल उठता है, इसी प्रकार ईश्वरकी सत्ता न माननेका अभिमान करनेवाला पुरुष भी जब विशेष आपत्तिमे ग्रस्त हो जाता है तो अनिच्छापूर्वक भी ईश्वरको पुकारने लगता है। एक नास्तिककी कहानी प्रसिद्ध है । एक बार वह जहाजमे बैठकर कहीं जा रहा था । उसी समय समुद्रमे एक भारी तूफान आया और वह जहाज डूबने लगा । तब तो उस नास्तिकके मुँहसे भी बरबस यह आवाज निकल पडी कि 'हे भगवन् ! इस विपत्तिसे बचाओ ।'

इस प्रकार सामान्यतः (इच्छा या अनिच्छासे) आस्तिक-नास्तिक सभी ईश्वरको माननेवाले ठहरेंगे । परन्तु वस्तुतः विचार करके देखा जाय तो यथार्थरूपसे ईश्वरको माननेवाले बहुत कम मिलेंगे । क्योंकि जो लोग 'ईश्वर है' ऐसा कहते है, वे भी अधिकांशमें सचमुच ईश्वरको माननेवाले नहीं ठहरते । ईश्वरके माननेवालेके

प्रधान लक्षण है—पापाचरणसे निवृत्ति, सदाचरणमे प्रवृत्ति, ईश्वरमे प्रेम, दुःख और हानिमे उद्वेगशून्यता और अचल शान्ति। ये सब लक्षण अकैतवरूपसे उसीमे मिलेगे जो यथार्थतः ईश्वरको माननेवाला होगा। इस कसौटीपर प्रत्येक मनुष्य अपनी परीक्षा आप कर सकता है कि वह कहांतक ईश्वरका माननेवाला है।

इस प्रकार निश्चय हो गया कि यद्यपि सामान्यतः सभी ईश्वरको मानते है परन्तु विशेषरूपसे उसे माननेवालोकी संख्या बहुत ही कम है। परन्तु विशेषरूपसे माननेवाले ही विशेषरूपसे ईश्वरकी ओर आकर्षित होते है। ईश्वरका सामान्य ज्ञान जीवको सम्पूर्ण दुःखोसे मुक्त नही करता, उसका विशेष ज्ञान ही परम कल्याणप्रद होता है। जैसे पारसके निकट रहनेपर और उसे पारस कहते रहनेपर भी जबतक उसके गुण, प्रभाव और उपयोगका ज्ञान नही होता तबतक मनुष्यकी दरिद्रता बनी ही रहती है; जैसे ही उसके गुण, प्रभाव और उपयोगका विशेष ज्ञान हुआ वैसे ही दरिद्रता भी नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार परमात्माके विशेष ज्ञानसे दुःखोकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

ईश्वरके प्रधानतः दो भेद माने जाते है—निर्गुण और सगुण। निर्गुण स्वरूपको शुद्ध ब्रह्म, परमात्मा, केवल, चैतन्य आदि नामसे भी पुकारा जाता है। यह मायारहित और केवल है। श्रुति कहती है—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्ण-
मचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥
(मुण्डक० १ । ६)

अर्थात् जो न देखा जाता है, न पकड़ा जाता है, जिसके न गोत्र है, न वर्ण है, न नेत्र है, न श्रोत्र है, न हाथ है, न पाँव हैं; वह नित्य, विभु, सबमे व्यापक, बहुत सूक्ष्म और अव्यय है। ऐसे सब भूतोंके मूल कारणको धीर पुरुष देखते है। श्रीमद्भगवद्गीतामे भी कहा है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
(१३ । १२)

अर्थात् जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूँगा; वह आदिरहित परम ब्रह्म है, न उसे सत् ही कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है।

इत्यादि अनेक श्रुति-स्मृतियाँ निर्गुण ब्रह्मका प्रतिपादन करती है; परन्तु 'इत्थंभूत' रूपसे उसका वर्णन हो ही नही सकता। वेद उसका परिचय 'नेति-नेति' शब्दोसे कराता है, अथवा केवल 'अस्ति' (है) इस शब्दसे उसका परिचय कराया जाता है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥
(कठ० ६ । १२)

अर्थात् परमात्मा वाणीसे, मनसे अथवा नेत्रसे नही प्राप्त किया जा सकता। वह परमात्मा केवल 'अस्ति' अर्थात् 'है' इसके

अतिरिक्त कैसे उपलब्ध होता है? इस प्रश्नका उत्तर इसके आगे-की श्रुति देती है—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥

(कठ० ६।१३)

अर्थात् 'वह है', इस रूपसे तथा तत्त्वस्वरूपसे उसको जानना चाहिये। जब 'वह है' इस प्रकार अनुभव कर लिया तो उसका तत्त्वस्वरूप स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः निर्गुण ब्रह्मका स्वरूप मन, वाणी आदि इन्द्रियोंसे अतीत है, किसीकी सामर्थ्य नहीं कि उसे पकड़ सके। श्रुति कहती है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

(तैत्ति० उप० २।४)

अर्थात् जहाँसे मन और वाणी उसको प्राप्त किये बिना ही लौट आते हैं। भला, अलौकिक वस्तुको पार्थिव वस्तुओंके द्वारा कोई कैसे जान सकता है?

परम ब्रह्मके इस निर्गुण स्वरूपकी उपलब्धि होनेपर भी यह कथन नहीं बनता कि मुझे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी है। इसी बातको श्रुति स्पष्टरूपसे कहती है—

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनम्। त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥

(केन० २।१)

अर्थात् यदि तू समझता है कि मैं उसको पूरा-पूरा जानता हूँ तो निस्सन्देह तू ब्रह्मका स्वरूप अल्प ही जानता है। इसका स्वरूप जो तू जानता है और जो देवताओंमें है (वह भी अल्प

है) । तब मैं समझता हूँ कि तुझे अपना जाना हुआ अभी विचारने योग्य है । इस श्रुतिमे ऋषि अपने तत्त्वनिष्ठ शिष्यसे पूछता हैं कि क्या तुम्हे ब्रह्मज्ञान हो गया है ? शिष्य उत्तर देता है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥

(केन उप० २ । २)

अर्थात् मै यह नही मानता कि मै ब्रह्मको पूर्णरूपेण जानता हूँ, न यही कि मै उसे नहीं जानता, क्योंकि मैं उसे जानता हूँ । हममेसे जो कोई उस ब्रह्मको जानता है, वह मेरी इस बात-को जानता है कि मै न तो उसे नहीं जानता और न जानता हूँ । ऐसे विलक्षण निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन क्यो नही हो सकता । इसका कारण भी श्रुति बतलाती है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।

(केन उप० १ । ३)

अर्थात् न वहाँ नेत्र पहुँचते है, न वाणी पहुँचती है, न मन ही पहुँचता है । हम नहीं समझते, नहीं जानते कि कैसे उसका उपदेश किया जाय ? वह जाने हुएसे निराला है और न जाने हुएसे भी निराला है, यह हमने बडोसे सुना है जिन्होने हमारे लिये इसका कथन किया है ।

ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होनेपर ज्ञाता ज्ञेयसे भिन्न नहीं रहता, अर्थात् परिच्छिन्न ज्ञाताकी अलग सत्ता नही रहती, केवल एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही रह जाता है । उस समय न ज्ञाता रह

जाता है, न ज्ञेय और न ज्ञान, अर्थात् त्रिपुटी मिट जाती है। तब क्या रहता है ? इस प्रश्नका उत्तर देना कठिन है, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि 'ज्ञेयमात्र रहता है' अथवा 'ज्ञातामात्र रहता है'—दोनोका भाव एक ही है। निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपमे सजातीय, विजातीय अथवा स्वगत कोई भी भेद नही है। एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके साथ, अथवा एक पशुका दूसरे अपनी ही जातिके पशुके साथ सजातीय भेद होता है। परमात्माके समान किसी दूसरे परमात्माके न होनेके कारण उसमें सजातीय भेद नही होता। दो विभिन्न जातिकी वस्तुओमे जो पारस्परिक भेद होता है, उसे विजातीय भेद कहते है; जैसे मनुष्य और वृक्ष दोनो विभिन्न जातिके है, अतः इनका पारस्परिक विजातीय भेद है। परमात्मामे यह भेद भी नही है, क्योकि परमात्मासे भिन्न कुछ है ही नही—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

(गीता ७।७)

मनुष्यशरीरमे हाथ, पैर, सिर आदि तथा वृक्षमे मूल, डाली, पत्ते, फल, फूल आदि अनेक भेद होते है। अपने भीतर ही होनेवाले इस प्रकारके भेदको स्वगतभेद कहते है। परमात्माके अन्दर इस स्वगतभेदका भी अभाव है। इस प्रकार निर्गुण शुद्ध ब्रह्म तीनो प्रकारके भेदोसे रहित है।

अब सगुण ब्रह्मका विचार किया जाता है। मायासहित ब्रह्मको सगुण ब्रह्म कहते है। क्योकि सत्त्व, रज, तम तीनो गुण ही मायाके स्वरूप है। इसलिये सगुण (गुणविशिष्ट) ब्रह्म माया-

युक्त ही माना जाता है। सगुण ब्रह्मके भी दो भेद हैं—सगुण निराकार और सगुण साकार। परमात्माके सर्वव्यापक मायासहित स्वरूपको सगुण निराकार कहते हैं। सृष्टिके आदिमें उसीके सङ्कल्पसे सृष्टिकार्य आरम्भ होता है। जैसे—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

(गीता ९।४)

अर्थात् मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माके अव्यक्तरूपसे यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार-पर स्थित हैं, इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। श्रुति भी कहती है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

(कठ उप० ६।१२)

अर्थात् 'सबको वशमें रखनेवाला, सब भूतोंका अन्तरात्मा, वह एक जो एकरूप (प्रकृति) को अनेक प्रकारका बनाता है, उसको जो धीर पुरुष आत्मामें स्थित देखते हैं उन्हींको सदा सुखकी प्राप्ति होती है, अन्योंको नहीं।' इस प्रकार जो परमात्मा अव्यक्त, सर्वव्यापक और इन्द्रियातीत है, जिसे 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' (कठ उप० २।२०) अर्थात् सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महान्‌से भी महान् कहा जाता है, तथा जिसमें जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, वही

परमात्मा सगुण-निराकारस्वरूप है। अब सगुण-साकारस्वरूपका विवेचन किया जाता है।

परमात्माका जो स्वरूप मायासहित है तथा इन्द्रियोंके गोचर होने योग्य आकारवान् है उसे सगुण-साकारस्वरूप कहते हैं। जैसे—

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥

अर्थात् जिसका शान्त स्वरूप है, जो शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए है, जिसकी नाभिमे कमल है, जो देवताओंका भी ईश्वर है तथा सम्पूर्ण विश्वका आधार है, जो आकाशके समान व्याप्त है, नीले मेघके समान जिसका वर्ण है, जिसके सम्पूर्ण अंग अतिशय सुन्दर है, जिसे योगिजन ध्यानके द्वारा प्राप्त करते है, उस सम्पूर्ण लोकोंके एकमात्र स्वामी, संसारके भयको दूर करनेवाले श्रीलक्ष्मीपति कमलनयन विष्णुभगवान्‌को मै प्रणाम करता हूँ।

इस प्रकारके सगुण-साकार रूपके, सम्प्रदाय और मतभेदसे, अनेकों नाम और रूप माने जाते है, जैसे ब्रह्मा, शिव, सूर्य, गणेश, दुर्गा आदि। भगवान्‌के इस रूपभेदका कारण भक्तोंके भावोंकी भिन्नता है। हिन्दू-सम्प्रदायमे भावकी ही प्रधानता है; इसलिये धातुमयी, पाषाणमयी, मृन्मयी, दारुमयी और मनोमयी

आदि जितने प्रकारकी मूर्तिकी उपासना की जाती है, सबमें भाव-की ही प्रधानता होती है। धातु या पाषाणकी पूजा नहीं होती। इसके वास्तविक रहस्यको न समझ सकनेके कारण कुछ लोग मिट्टी या पाषाणकी मूर्तिकी पूजामे शंका करते हैं। परन्तु वे लोग यदि पूजा और स्तुतिके मन्त्रोके अर्थोपर ध्यान दे तो सहज ही ज्ञात हो जायगा कि उनमे कहीं भी पाषाण, मिट्टी या धातुकी प्रशंसा नहीं होती। अतएव उपासक अपने हृदय (भाव) और वाणी (स्तवन) से जिसकी पूजा करता है वास्तवमे पूजा उसीकी होती है।

भगवान्‌के रूपकी सीमा बाँध लेना और यह कहना कि भगवान्‌का केवल एकमात्र यही स्वरूप है, कदापि उचित नहीं। कुछ साम्प्रदायिक भाववाले लोग अपने इष्टदेवके सिवा अन्य रूपोकी निन्दा भी कर देते है, पर ऐसा करना बालकवत् अज्ञता है। जो पुरुष अपने इष्टदेव—भगवान्‌की प्रशंसा और दूसरेके भगवान्‌की निन्दा करते है वह वास्तवमे अपने ही इष्टदेवका तिरस्कार करते है। इस विषयकी एक आख्यायिका प्रसिद्ध है।

एक पिताके दो पुत्र थे। उन्होने अपने पिताके दोनो पैरो-की सेवा अलग-अलग बाँट रक्खी थी। एक दिन दोनो अपने-अपने हिस्सेके पैरकी सेवा कर रहे थे कि संयोगसे एक पैर दूसरे पैरसे जा लगा और उस पैरकी सेवा करनेवाले लड़केने दूसरे पैरमें एक घूँसा जमा दिया और कहा कि 'तू मेरे सेव्य पैरमे क्यो आ लगा?' अपने सेव्य चरणको मार खाते देखकर दूसरे लड़केको

भी क्रोध आ गया और उसने दूसरे पैरपर दो घूँसे जमा दिये । इस प्रकार परस्पर क्रोधित हो दोनो पुत्र अपने पिताके पैरोको पीटने लगे । उन मूर्खोंके यह नही समझमे आया कि इस प्रकार वे अपने पिताका अनिष्ट कर रहे है । पैरोमे चोट लगनेसे पिताने उनको रोका, तब दोनो पुत्रोने अपनी-अपनी शिकायत कह सुनायी । पिताने उनकी मूर्खतापर अफसोस करते हुए उन्हे बतलाया कि दोनो ही जिसे सेवा समझते थे वह वस्तुतः सेवा न थी, वल्कि पारस्परिक द्वेषके द्वारा मूर्खतावश पिताका अनिष्ट किया गया था ।

इसी प्रकार जो लोग अपने इष्टकी उपासना करते तथा अन्य लोगोके इष्टको तुच्छ मानकर उसका तिरस्कार करते है वे अपने ही इष्टका तिरस्कार करते है । हॉ, इष्टदेव चाहे जिस रूपमे हो उसकी उपासना ईश्वररूपसे ही करनी चाहिये; उसको सर्वेश्वर माननेमे कोई हानि नही है । परन्तु किसी देवकी निन्दा करनेका अधिकार किसीको नही है । ईश्वरमे विश्वास रखनेवाले तथा उसकी उपासना करनेवालेको नीचे लिखी बातोपर विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

१ ईश्वर एकसे अधिक नही हो सकता ।

२ ईश्वर एकदेशीय नही होता ।

३ ईश्वर एकजातीय नही होता ।

४ ईश्वर अल्पज्ञ नही होता ।

५ ईश्वरकी सामर्थ्य परिमित नहीं होती ।

६ ईश्वर पक्षपाती और स्वार्थी नही होता ।

७ ईश्वरसे अन्य कुछ भी तथा कोई भी श्रेष्ठ नहीं है ।

८ ईश्वर किसी प्रकार पापाचरणका प्रेरक नहीं होता ।

९ ईश्वर सर्वोच्च है और महापापीका भी हितैषी है ।

१० ईश्वर एककालीन नहीं होता ।

११ ईश्वर परम दयालु, सर्वज्ञ और आनन्दरूप है ।

सभी उपासकोको अपने-अपने इष्टमे इन ग्यारह भावोको अवश्य ही रखना चाहिये । जहॉ भावना अल्प होती है वहॉ लाभ भी अल्प होता है और जहॉ भावना महान् होती है वहॉ फल भी महान् होता है । यदि वस्तुतः कोई ईश्वरका यथार्थ रूप देखना चाहे तो बुद्धिवलसे उसको देखना या दिखाना नही हो सकता । उसे तो यथार्थतः वही जानता है जिसको वह प्रभु स्वयं जना देता है । गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है—

'सो जानै जेहि देहु जनाई ।'
तुम्हरी कृपा तुमहिं रघुनन्दन । जानत भक्त भक्त-उर-चन्दन ॥

श्रुति भी कहती है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः । (मुण्डक० ३ । २ । ३)

वस्तुतः भगवान् क्या है, इसे तो स्वयं वही जानते है, या उनके सच्चे प्यारे भक्त उन्हींकी कृपासे कुछ जान सकते है । 'अन्यो-के कथन ठीक नही', यह नही कहा जा सकता, और 'ईश्वर इत्थम्भूत अर्थात् ऐसा ही है', यह भी नही कहा जा सकता ।

क्योंकि ईश्वरका रहस्य अलौकिक है । प्रायः ईश्वरके विषयमें कहनेवाले अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार कुछ दूरतक कहते भी हैं, फिर भी उनका कहना अपूर्ण ही रह जाता है । इस बातको स्पष्ट करनेवाली हाथीके स्वरूपके सम्बन्धमें पैर, सूँड, पूँछ, कान, पीठ और दाँतको ही हाथी बतानेवाले छः अन्धोंकी लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है ।

अतः ईश्वरके जितने भी स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णित हैं तथा सच्चे भक्तोंने स्वीकार किये हैं, उन सभीको सम्मानकी दृष्टिसे देखना चाहिये और अपनी प्रीति या रुचि जिस भाव (रूप या नाम) में हो उसीकी ईश्वरभावनासे उपासना करनी चाहिये । सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि साधकको अपने इष्टमें किसी प्रकारकी अपूर्णता नहीं देखनी चाहिये, क्योंकि जहाँ अपूर्णता है वहाँ ईश्वरत्व नहीं है । साधकका भाव पूर्ण और सर्वोच्च होना चाहिये; फिर वह चाहे जिस नाम-रूपकी उपासना करे, वह सर्वेश्वर पूर्ण ईश्वरकी ही उपासना समझी जायगी । परन्तु यदि नाम-रूप अति मनोहर और श्रेष्ठ है, पर भाव श्रेष्ठ नहीं है तो वह उपासना सर्वेश्वर महेश्वरकी नहीं हो सकती । अब अन्तमें उस सर्वेश्वर परमात्माको प्रणाम करके लेख समाप्त किया जाता है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सर्वाणि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४१)

श्रीकृष्णभक्ति-रस-तत्त्व

अंसालम्बितवामकुण्डलधरं मन्दोन्नतभ्रूलतं
किञ्चित्कुञ्चितकोमलाधरपुटं साचिप्रसारेक्षणम्।
आलोलाङ्गुलिपल्लवैर्मुरलिकामापूरयन्तं मुदा
मूले कल्पतरोस्त्रिभङ्गललितं ध्यायेज्जगन्मोहनम्॥
(कवि कर्णोत्पलस्य)

जो कंधेतक लटकनेवाले मनोहर कुण्डल धारण किये है, जिनकी भ्रूलता धनुषकी भॉति खिची हुई है, जिनके अधरपल्लव अति कोमल, सुन्दर और किञ्चित् कुञ्चित है (क्योकि वे उनसे मुरली वजा रहे है), जिनके नेत्र वॉके और विशाल है और जो कल्पतरु (कदम्ब) के नीचे मनहरण त्रिभङ्गरूपसे खड़े आनन्दके साथ चञ्चल कोमल अँगुलियोको वंशीपर फिराते हुए उसे वजा रहे है, ऐसे जगन्मोहन, मनमोहन, श्यामसुन्दरका ध्यान करना चाहिये।

विपयारम्भसे पूर्व लेखके शीर्षक 'श्रीकृष्णभक्ति-रस' का भावार्थ पाठकोकी सेवामे रखना चाहता हूँ।

श्री=ऐश्वर्यवाचक, श्रीमती राधिका।

कृष्ण=(क) कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति शाश्वतः॥
(महा० उद्योग० ७०। ५)

'कृष्' धातुका अर्थ सत्ता है और 'ण' निर्वृति अर्थात् आनन्दका वाचक है, दोनोंके योगसे 'कृष्ण' शब्द बनता है। अर्थात् जो सर्व कालमें, सर्व समयमें और सर्व देशमें नित्य आनन्दरूप हो, वही कृष्ण है।

(ख) 'कृष्' शब्दका अर्थ आकर्षण भी होता है—

कर्षति आत्मसात्करोति आनन्दत्वेन परिणमयति मनो भक्तानामिति कृष्णः।

गौतमीयतन्त्रमें कहा गया है—

(ग) **कृषशब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः।**
सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमयस्ततः॥

'कृष्' शब्दका अर्थ सत्ता और 'ण' प्रत्ययका अर्थ आनन्दस्वरूप। आत्मा सुखरूप और आनन्दमय है, इसलिये कृष्ण-शब्दका अर्थ आनन्दमय परब्रह्म है। ब्रह्माजी कहते हैं—

(घ) **अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।**
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३२)

नन्द आदि व्रजनिवासी गोपोंके धन्य भाग्य है—महान् भाग्य है, क्योंकि परमानन्दस्वरूप पूर्ण सनातन ब्रह्म स्वयं उनके स्वजन है। भागवतमें अन्यत्र भी कहा है—

(ङ) **गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्।**

साक्षात् परब्रह्म ही मनुजाकारमें गूढ़ होकर स्थित है।

भक्ति—हर तरहसे ऐसे आनन्दस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्णका अथवा श्री अर्थात् राधिकाजी सहित श्रीकृष्णका सेवन करना।

रस='रसो वै सः'। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।'

(तैत्ति० २।७)

श्रुति कहती है, भगवान् रसरूप अर्थात् प्रेमरूप ही है, उस प्रेम या रसको प्राप्त होकर जीव आनन्दी अर्थात् आनन्दमग्न होता है।

वास्तवमे श्रीकृष्णभक्ति अत्यन्त ही मधुर और आनन्द-प्रदायिनी है। इस भक्तिसे ही भक्तभावन भगवान्के दर्शन होते हैं। जबतक उस जगन्मोहन मनमोहन श्यामसुन्दरकी बाँकी झाँकी नेत्रोके सामने नही आती, तबतक यह जीव चाहे कही भी भटक ले, उसे वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। पर एक बार जो उस छबीली छबिको निहार लेता है, वह तन-मनकी सारी सुधि भूलकर उन्मत्त हो उठता है—

सुनत न काहूकी कही, कहत न अपनी बात।
'नारायण' वा रूपमें मगन रहत दिन रात॥
धरत कहूँ पग, परत कहुँ, सुरत नहीं इक ठौर।
'नारायण' प्रीतम विना दीखत नहिं कछु और॥
लतन तरे ठाढ़ौ कबहुँ, कबहूँ जमुनातीर।
'नारायण' नैनन बसी मूरति स्यामसरीर॥

वास्तवमे प्रेमकी यह दशा वर्णनातीत है, यह ऐसा बाँका जाल है कि सांसारिक विषयरूप रसका प्रेमी भी यदि इसमें एक बार फँस जाता है तो वह भी सदाके लिये अपनेको खो देता है। पठान रसखानका हाल सभी जानते हैं। रसखानजीको हुए करीब पौने चार सौ वर्ष हो गये, वे विषयी थे और वैषयिक रूप-पर ही आसक्त हो अपना जीवन बिता रहे थे। एक बार किसी कृष्णरूप-रसिक भक्तकी कृपासे उनकी विषयान्वेषिणी आँखोके सामने सहसा

गोकुलविहारी वनवारी मुरलीधारीकी मोहिनी छबि आ गयी । बस, फिर क्या था, उसी समय वे विषयको भुलाकर सदाके लिये नटखट नटवरपर न्योछावर हो गये । उन्होंने पुकारकर कहा—

वा लकुटी अरु कामरियापै राज तिहूँ पुरको तजि डारौं ।
आठहुँ सिद्धि नवौ निधिके सुख नंदकी गाय चराय बिसारौं ॥
रसखान कहै, इन आँखिनसों ब्रजके बन बाग तड़ाग निहारौं ।
कोटिकहू कलधौतके धाम करीलकी कुंजन ऊपर वारौं ॥

पूज्यपाद स्वामी श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी परम विद्वान् और निराकारके पुजारी थे । आप अत्यन्त विरक्त त्यागी थे, संसारको अनित्य, नाशवान् और जड़ माननेवाले थे । नामरूपको कल्पित मानते थे और कहते थे कि सच्चिदानन्द ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । एक समय आप दैववशात् व्रज गये और वहाँ उस नुकीले नयनवाले माखनप्रेमी मनचोरके रूपजालमे फँसते ही सब कुछ भूलकर पुकार उठे—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति ॥

(श्रीमधुसूदनस्य)

सच है, उस नन्दनन्दन साकार ब्रह्मको देखकर निराकार ब्रह्मकी किसे याद रहती है ?

चाहे तू जोग कर, भृकुटी मध्य ध्यान धर,
चाहे नामरूप मिथ्या जानिकै निहारि ले ।

निर्गुण निरञ्जन निराकार ज्योति व्यापि रही
ऐसो तत्त्वग्यान निज मनमें तू धारि ले ॥
'नारायण' अपनेको आप ही वखान करि,
मोते वह भिन्न नहीं, या विधि पुकारि ले ।
जौलौं तोहि नंदको कुमार नाहिं दृष्टि पर्‍यो,
तौलौं तू वैठि भले ब्रह्मकों विचारि ले ॥

विश्वमनमोहन व्रजवल्लभकी वॉकीझॉकी देखनेपर तो आसक्त होनेमे कहना ही क्या है । जगन्माता रुक्मिणी देवीने तो श्यामसुन्दरके रूपगुणोकी महिमा सुनकर ही अपनेको उनपर न्योछावर कर दिया था । शुकदेवजी लिखते है—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥
(श्रीमद्भा० १० । ५२ । ३७

हे अच्युत ! हे त्रिभुवनसुन्दर ! जो कानोके द्वारा हृदयमे प्रवेशकर सुननेवालोके समस्त अङ्गतापको शान्त कर देते हैं आपके वे सब गुण, और जो नेत्र रखनेवाले लोगोंकी दृष्टिका परम मुख्य लाभ या फल है उस आपके रूपकी प्रशंसा सुनकर मेरा चित्त आपपर ऐसा आसक्त हो गया है कि आज उसे लोक-लज्जाका कोई भी बन्धन नही रोक सका !

का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम् ।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ५२ । ३८

हे मुकुन्द ! कुल, शील, रूप, विद्या, अवस्था, द्रव्य, सम्पत्ति और प्रभावसे अपने तुल्य आप ही है । हे नरश्रेष्ठ ! आप मनुष्योंके मनको रमानेवाले हैं । हे पुरुषसिंह ! विवाहकाल उपस्थित होनेपर कौन कुलवती, गुणवती और बुद्धिमती रमणी आपको अपना स्वामी बनानेकी अभिलाषा न करेगी ?

वृन्दावनविहारी श्रीश्यामसुन्दर गोपिकाओंके प्रेमकी पुञ्जीकृत मूर्ति थे, यादवोंके समस्त सौभाग्यके मूर्तिमान् स्वरूप थे, श्रुतियोंके सार ब्रह्मरूप गुप्त धनके भण्डार थे और निराकार शुद्ध ब्रह्म ही श्याम-साकाररूपमें आविर्भूत हुए थे । कहा है—

पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां
मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम् ।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां
श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम् ॥

(राघवचैतन्य श्रीचरणानाम्)

अखिलभुवनपति भगवान् श्यामसुन्दरकी भक्ति लोग विविध भावसे करते हैं । भक्तिके अनेक भेद भी हैं । यहाँ उन्हींका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है ।

साधनभक्ति—यह नौ प्रकारकी है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

(श्रीमद्भा० ७ । ५ । २३)

किसी-किसीके मतसे यह नवधा भक्ति 'मुख्या' और 'गौणी' भेदसे दो प्रकारकी होती है ।

(क) *मुख्या भक्ति*—श्यामसुन्दरकी भक्ति केवल श्यामसुन्दरके प्रेमके लिये ही हो, उसमें अन्य कोई भी अभिलाषा न हो, जैसे भक्त

प्रह्लादकी थी। प्रह्लादजी भगवान्‌को छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहते थे। जब प्रह्लादको बचानेके लिये भगवान्‌ने नृसिंहरूपमे प्रकट होकर हिरण्यकशिपुको मारा और प्रह्लादसे वर मॉगनेको कहा, तब प्रह्लादने कहा—

मा मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० ७। १०। २)

हे प्रभो! मैं तो जन्मसे ही (विषयोमे) आसक्त हूँ, अब वरका लोभ दिखाकर आप मुझे न ललचाइये। चाहके डरसे डरकर ही तो मैंने निर्विण्ण होकर मुमुक्षुरूपमे आपका आश्रय लिया है।

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।

(श्रीमद्भा० ७। १०। ४)

हे प्रभो! जो आपसे वर चाहता है वह दास नहीं, वह तो व्यापारी है। क्या आप मेरी परीक्षा करते है? इस भावसे की जानेवाली भक्तिको मुख्या कहते है।

(ख) *गौणी भक्ति*—जिसमे श्यामसुन्दरकी सेवा किसी अन्य उद्देश्यसे की जाती है अर्थात् जहाँ साध्य कोई लौकिक या पारलौकिक पदार्थ हो और उसकी प्राप्तिके लिये भक्ति साधनरूपसे की जाती हो।

इस प्रकारकी भक्तिके साधकोंमें रावण, हिरण्यकशिपु आदि अनेक असुरोके उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिन्होने भोगलालसासे प्रेरित होकर भगवान्‌से बल-वीर्य, धन-धान्य और आयु आदिके लिये वरदान मॉगा था। इनके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे

अनेक भक्त हुए हैं जो भोगप्राप्ति या रोग-संकटादिकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌को भजते थे । ध्रुव, गजराज आदि इसी श्रेणीमें हैं ।

किसी-किसीके मतसे भक्तिके दो भेद है—'वैधी' और 'रागात्मिका' ।

वैधी—जो शास्त्रके आज्ञानुसार विधिसहित की जाती है वह वैधी कहलाती है, इसके भी दो प्रकार है—

(१) सकाम भक्ति—किसी भी कामनाको लेकर विधिपूर्वक की जानेवाली भक्ति । जैसे भक्त ध्रुवने आरम्भमे पद्मपलाशलोचन भगवान्‌की भक्ति राज्यकी इच्छासे की थी । पहले ध्रुवकी माताने ही उसे इस भक्तिकी शिक्षा दी थी, तदनन्तर महर्षि नारदजीने इन्हे भक्तिके साधन बतलाये थे । गौणी भक्ति और सकाम वैधी भक्ति बहुत अंशमे मिलती-जुलती-सी है, भेद इतना ही है कि 'गौणभक्ति' मे विपयासक्ति इतनी प्रबल होती है कि साधनरूप भगवान्‌को पानेपर भी साध्यरूप विपयोकी ही उत्कण्ठा बनी रहती है, पर 'सकाम भक्ति' मे साधनरूप भगवान्‌के दर्शन प्राप्त होते ही विपयेच्छाका विनाश होकर केवल भगवान्‌मे प्रेम हो जाता है । जैसे ध्रुवने कहा है—

स्थानाभिलाषी तपसि स्थितोऽहं
त्वां प्राप्तवान्देवमुनीन्द्रगुह्यम् ।
काचं विचिन्वन्नपि दिव्यरत्नं
स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे ॥

हे स्वामिन् ! मैंने तो राज्य पानेकी अभिलाषासे ही आपके लिये तप किया था, परन्तु मुझे तो अब उसकी (आप सच्चिदा-

नन्दकी) प्राप्ति हो गयी, जो देवता, मुनि और योगियोंको भी दुर्लभ है। काँच ढूँढनेवालेको यदि दिव्य रत्न मिल जाय तो फिर वह काँचकी चाह क्यों करेगा ? अतएव हे नाथ ! अब मुझे कोई भी वर नहीं चाहिये। मैं तो आपके दर्शनसे ही कृतार्थ हो गया।

(२) *निष्कामभक्ति*—जो केवल कर्तव्यबुद्धिसे शास्त्रविधिके अनुसार की जाती हो—जैसे राजा अम्बरीष करते थे। दुर्वासा मुनिद्वारा प्रेरित प्रज्वलित प्रलयकारी कृत्याको देखकर भी अम्बरीषजी न तो जरा भी विचलित हुए और न भगवान्‌से रक्षा करनेके लिये उन्होंने प्रार्थना ही की। अम्बरीषजीके सम्बन्धमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम्॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६७)

ऐसे मेरे भक्त मेरी सेवामें ही तृप्त हैं; वे और कुछ भी नहीं चाहते, यहाँतक कि सेवासे मिलनेवाली सालोक्यादि चार प्रकारकी मुक्ति भी उन्हें नहीं चाहिये। फिर अन्य नाशवान् पदार्थोंकी तो बात ही क्या है ?

रागात्मिका—नन्दनन्दनके प्रति अहैतुक अनुरागजनित भक्तिको रागात्मिका कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—

(१) रूप-गुणजन्य (२) सम्बन्धजन्य और (३) स्वाभाविक।

१—रूप-गुणजन्य—मुरलीमनोहरके रूप-गुणोंको सुन या देखकर श्यामसुन्दरमें जो अनुराग होता है, उसे रूप-गुणजन्य

अनुरागभक्ति कहते है—जैसे रुक्मिणीजीकी भक्ति थी (इसका वर्णन ऊपर हो चुका है)। एक कविका कथन है—

माथेपै मुकुट देखि, चंद्रिका-चटक देखि,
छबिकी लटक देखि रूपरस पीजिये।
लोचन विसाल देखि, गरे गुंजमाल देखि,
अधर रसाल देखि चित्त चाव कीजिये॥
कुंडल हलनि देखि, अलक बलनि देखि,
पलक चलनि देखि सरबस दीजिये।
पीतंबरकी छोर देखि, मुरलीकी घोर देखि
साँवरेकी ओर देखि, देखिबोई कीजिये॥

ऐसे रूपरसिक अनेक भक्त हुए है।

२ *सम्बन्धजन्य*—श्रीकृष्ण हमारे पुत्र है, सखा है, भ्राता हैं, स्वामी है इत्यादि सम्बन्धहेतुसे जो श्यामसुन्दरमे अनुराग होता है। व्रजके गोप, नन्द, यशोदा, अर्जुन आदिका अनुराग इसी श्रेणीका था। जिस समय श्रीकृष्ण कालीदहमे कूद पडे और कालियनाग उस सुकुमार दर्शनीय घनश्यामके साँवरे शरीरमे लिपट गया, उस समय गोपगणोंकी और नन्द-यशोदाकी बडी ही दयनीय दशा हो गयी। श्रीशुकदेवजी उनकी दशाका वर्णन करते हुए कहते है—

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट-
मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा
दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः॥

ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां
तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः ।
तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन्
कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः ॥
कृष्णप्राणान्निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम् ।
प्रत्यषेधत्स भगवन्रामः कृष्णानुभाववित् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १६ । १०, २१, २२)

गोपगणोको सबसे बढ़कर प्रिय श्रीकृष्ण ही थे । उन्होने अपना शरीर, अपने सगे-सम्बन्धी, अपने सब प्रयोजन, स्त्री और अभिलाषाएँ आदि सबको श्रीकृष्णार्पण कर दिया था । वे प्यारे श्रीकृष्णको उसके शरीरमे सर्पके लिपटे होनेके कारण निश्चेष्ट देखकर अत्यन्त कातर हो गये एवं दुःख, पश्चात्ताप तथा भयसे संज्ञाशून्य होकर पृथिवीपर गिर पड़े । माता यशोदा प्रिय पुत्रको इस दशामे देखकर अत्यन्त कातर हो दीन स्वरसे विलाप करती हुई पुत्रके पास जानेको स्वयं कुण्डके अन्दर घुसने लगी; किन्तु गोपियोने, जिनको यशोदाके समान ही व्यथा थी,—रोती हुई यशोदाको रोक लिया और श्रीकृष्णकी लीला-कथा कहती तथा आँसू बहाती हुई मृतकके समान श्रीकृष्णकी ही ओर निहारने लगी । श्रीकृष्ण ही जिनके प्राण है, वे नन्द आदि सब गोप शोक-से विह्वल हो जब कुण्डमें कूदनेको तैयार हो गये, तब श्रीकृष्णका प्रभाव जाननेवाले बलभद्रजीने उनको रोका ।

२ *स्वाभाविक*—बिना ही किसी हेतु या किसी स्वार्थके

वृन्दावनविहारीमे अनुराग होना। ऐसा अनुराग कुछ व्रजबालाओ-का तथा श्रीमती राधिकाका था। व्रजबालाएँ कहती है—

कोऊ कहो कुलटा, कुलीन अकुलीन कहो,
कोऊ कहो रंकिनी, कलंकिनी, कुनारी हौ।
कैसो नरलोक, बरलोक, लोक लोकनमें,
लीनी मैं अलीक लोक-लीकनि ते न्यारी हौ॥
तन जाहु, धन जाहु, देव गुरुजन जाहु,
जीव किन जाहु, टेक टरत न टारी हौं।
बृंदावनवारी गिरधारीकी मुकुटवारी,
पीतपटवारो वाही मूरतिपै वारी हौं॥

भक्तिके उपर्युक्त भेदोके अतिरिक्त दो भेद और माने जाते है—'मदर्थ' और 'तदर्थ'।

मदर्थ भक्ति—जो अपने सुखके लिये की जाती है। यह सुख सांसारिक भोग-सुखसे लेकर परमानन्द मोक्ष-सुखतक माना गया है। गौणी और सकाम भक्ति इसीके अन्तर्गत आ जाती है—श्रीकृष्णका भजन तो अपनी विपन्न अवस्था दूर करनेके लिये किया जाता है, पर श्रीकृष्णमे अनुराग भी है—जैसे द्रौपदीका था। कोई श्रीकृष्णदर्शनार्थ उन्हे भजता है, क्योकि श्रीकृष्णके दर्शनसे उसके नेत्रोको बडा सुख मिलता है। कहा है—

नहिं बिसरत सखि स्यामकी सुरतियाँ।
हँसन, दसन द्युति, दामिनिदमकन
चंद बदनसों अति मृदु बतियाँ॥

कुँडल झलक लखि लगै न पलक, नक-
बेसरकी हलन, चलन गजगतियाँ।
'नारायण' जब निरखुँ लालकों
सफल नयन सीतल है छतियाँ ॥

कोई भक्त श्रीकृष्णको अपने कल्याणके लिये भजते हैं। इस प्रकार निज सुखार्थ की जानेवाली सभी भक्ति 'मदर्थ' है।

तदर्थ भक्ति—जिसमे अपने सुखकी चाह बिल्कुल न हो, केवल प्रियतमके सुखकी चाह हो। 'तत्सुखसुखित्वम्'—प्यारेके सुखमे ही सुखी हो। प्यारेको होनेवाला जरा-सा क्लेश भी असह्य हो। ऐसे भक्तके हृदयमें अपने लिये लोक-परलोककी चिन्ता स्वप्न-मे भी नही होती। वह प्रतिक्षण केवल यही चाहता है कि कैसे प्यारेकी इच्छा पूर्ण हो। अपना शरीर, मन, धन, प्राण आदिके मिट्टीमे मिलनेसे भी यदि प्यारेको कुछ भी आनन्द हो तो इसीमें उसे परमानन्द होता है—श्रीमती राधिका आदि गोपिकाओं तथा कुछ अन्य भक्तोंका यही भाव था। भक्त कहते हैं—

कदम-कुंज ह्वैहौं कबै श्रीवृंदावन माँहि।
'ललितकिसोरी' लाड़िले विहरैंगे तिहि छाँहि ॥
सुमनवाटिका विपिनमें ह्वैहौं कब मैं फूल।
कोमल कर दोउ भावते धरिहैं बीनि दुकूल ॥
कब हौं सेवाकुंजमें ह्वैहौं स्याम तमाल।
लतिका कर गहि विरमिहैं ललित लड़ैती लाल ॥
मिलिहै कब अँग छार ह्वै श्रीवन बीथिन धूरि।
परिहै पदपंकज जुगुल मेरे जीवनमूरि ॥

इनके अतिरिक्त एक भक्ति और है जिसको शुद्धा, अहैतुकी, परा या उत्तमा भक्ति कहते है। यह भक्ति किसी भी हेतुको लेकर नही होती। इसीसे इसका स्वरूप भी अनिर्वचनीय है। पूज्यपाद श्रीरूपगोस्वामीजी इसी उत्तमा भक्तिका स्वरूप बतलाते हैं—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

एक श्यामसुन्दरके अतिरिक्त अन्य समस्त सांसारिक एवं पारलौकिक विपयोकी अभिलापासे शून्य होकर, ज्ञानकर्मादिसे अनावृत रह, श्रीकृष्णके अनुकूल उनकी सेवा करना उत्तमा भक्ति है। मतलब यह कि श्रीकृष्णको छोडकर संसारके सारे भोगपदार्थ और मोक्षपर्यन्त सभी कुछ अन्य है; अथवा एक श्यामसुन्दर ही अपने निज जन है, और सभी दूसरे है। 'तुम विनु, श्रीकृष्णदेव! और कौन मेरो' इस भावसे श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसीकी अभिलापा नही रक्खे, ज्ञान और कर्म आदिके लक्ष्यसे रहित या ज्ञान और कर्मके अभिमानसे रहित श्रीकृष्णके अनुकूल सेवाको ही एकमात्र परम ध्येय समझे। ऐसे भक्तोको जो कुछ भी कर्तव्य आकर प्राप्त होते है, निस्सन्देह वे सभी उनके प्रभुकी इच्छानुसार होते है। इसलिये वे प्रत्येक व्यवहारको ही अनुकूल समझते हैं। प्रियतम प्रभुका निरन्तर स्मरण करते हुए ही वे सब व्यवहार करते है। वे आधे निमेपके लिये भी अपने प्यारेका विस्मरण नहीं होने देते।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।

न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ५३)

तीनों लोकके समस्त ऐश्वर्यके लिये भी उन देवदुर्लभ भगवच्चरणकमलोंको जो आधे निमेषके लिये भी नहीं त्याग सकते, वे ही श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं ।

श्रीकृष्णगतप्राण भक्तका कहना है—

तौक पहिरावो, पाँव बेड़ी लै भरावो, गाढ़े
बंधन बँधावो, औ खिंचावो काची खाल सों ।
विष लै पिलावो, तापै मूठ भी चलावो,
मँझधारमें डुबावो, बाँधि पाथर कमाल सों ॥
बिच्छू लै बिछावो, तापै मोहि लै सुलावो, फेरि
आग भी लगावो, बाँध कापड़ दुसाल सों ।
गिरितें गिरावो, काले नागतें डसावो, हा, हा,
प्रीति ना छुड़ावो गिरधारी नन्दलाल सों ॥

अहैतुकी भक्तिमें केवल श्रीकृष्णके प्रति स्वाभाविक ही एक अलौकिक आकर्षण रहता है । वह न रूपजन्य है, न गुणजन्य है, न सम्बन्धजन्य है, न ऐश्वर्यजन्य है और न मोक्षके लिये ही है; फिर क्यों है ? इसका भी कोई उत्तर नहीं है । इसीलिये वह 'अनिर्वचनीय' है । नारदसूत्रमें कहा है—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ५४ ॥

'यह प्रेम गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाला, अविच्छिन्न, अत्यन्त सूक्ष्म और अनुभवरूप है ।'

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति ॥ ५५

'इसको प्राप्त होकर मनुष्य केवल श्रीकृष्णको देखता है—कृष्णको ही सुनता है, कृष्ण ही बोलता है, और कृष्णका ही चिन्तन करता है।'

जित देखौं तित स्याममई है !

स्याम कुंज-बन, जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है ॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
हौं बौरी, कै लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई है ॥
चंद्रसार रबिसार स्याम है, मृगमद सार कामबिजई है।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनहुँ स्यामता बेल बई है ॥
स्रुतिको अक्षर स्याम देखियत, दीपसिखा-पद स्यामतई है।
नर-देवनकी कौन कथा है, अलख ब्रह्म छबि स्याममई है ॥

जबतक हृदयमें भोग या मोक्षकी स्पृहा रहती है, तबतक यथार्थ भक्ति नहीं प्राप्त होती। इस कथनसे कोई यह न समझे कि भगवान्‌से किसी प्रकारसे कुछ चाहना पाप या दोष है। मैं ऐसा नहीं कहता। भगवान् तो अपने सर्वस्व हैं, उनसे कुछ भी माँगना या चाहना दोषकी बात नहीं है; पर न चाहना सर्वोत्तम है। भगवान्‌से मोक्ष माँगनेवाले भक्त तो सर्वथा वन्दनीय हैं। परन्तु बात यह है कि—

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः।

जिस भक्तकी श्रीश्यामसुन्दरके चरणोंमें परमानन्दरूपा भक्ति

है. मोक्षसाम्राज्यश्री तो उसके चरणोमे लोटती रहती है।* सहैतुकी भक्तिसे भी अहैतुकी भक्ति हो जाती है। गोसाईंजी महाराजने कहा है—

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं, जिअँ जाचिअ जानकिजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु विचारि विभीषनकी, अरु आनु हिए हनुमानहि रे।
तुलसी भजु दारिद दोष दवानल, संकट कोटि कृपानहि रे॥

अतएव किसी प्रकारकी भक्ति भी उपेक्षा तथा निन्दाके योग्य नहीं, प्रत्युत सभी वन्दनीय है। भक्ति उत्पन्न होनेका क्रम शास्त्रमे इस प्रकार बतलाया गया है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति॥

(श्रीरूपगोस्वामिन.)

प्रथम श्रद्धा, फिर सत्संग, तदनन्तर भजन, भजनसे दोषोंकी निवृत्ति, पश्चात् निष्ठा अर्थात् चित्तकी एकाग्रता-ध्यानादि, अनन्तर भगवान्के नामरूप-लीलामे रुचि, फिर प्रीति, तत्पश्चात् भाव और इसके अनन्तर प्रेमका उदय होता है। प्रेमी भक्तजनोंने भक्तिके विविध भेद बतलाये है और उसके अङ्ग-

* जो भक्त भगवत्प्रेममें तल्लीन हो जाता है, अपना सर्वस्व, लोक-परलोक, इच्छा-वासना, कर्म-धर्म, सभी कुछ प्रियतम परमात्माके चरणोंमें न्योछावर कर उसकी लीलाका यन्त्र, उसका अनुगत सेवक बन जाता है, उसके सारे बन्धन टूट जाते है, अतएव उसका मोक्ष तो स्वयसिद्ध है। उसके एक बन्धन अवश्य रहता है, वह है मोक्षाधार परमात्माका प्रेम-बन्धन, उसको वह छोडना चाहता नहीं। —सम्पादक

उपाङ्गरूपमे भाव, विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, सञ्चारीभाव, उद्दीपन, आलम्बन इत्यादि अनेक प्रकार है। विस्तारभयसे उन सबका स्पष्टीकरण नही किया जाता।

साधनभक्ति करते-करते जबतक हृदयमे दिव्य प्रेमरसकी उत्पत्ति न हो तबतक वह साधन विशेष उच्च कोटिका नही समझा जाता। प्रेम-रस ही साधनभक्तिका फल है, क्योकि प्रेमसे ही प्रियतमकी प्राप्ति होती है।

कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तस्य मूल्यमपि लौल्यमेकलं जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते॥

'श्रीकृष्णभक्तिसे सनी हुई बुद्धि कही मिल जाय तो उसे तुरन्त खरीद ही लेना चाहिये। ऐसी मतिका मूल्य केवल श्रीनन्द-नन्दनके पानेकी तीव्र लालसा ही है, इस लालसाको छोड़कर करोडो जन्मोके पुण्यसे भी वह नही मिल सकती।'

इस कृष्णप्रेम-रसकी अनुभूति हो जानेपर यह जीव संसारमे बर्तता हुआ भी विषयरसमे आसक्त नही होता। वह श्रीकृष्ण-प्रेममे विभोर हुआ ही सब कुछ करता है।

'नारायण' जाको हियो बिंध्यो स्याम दृग बान।
जगके भावें जीवतो, है वह मृतक समान॥

ऐसे भगवत्प्रसादप्राप्त कृष्णप्रेमी भक्तका विषयव्यवहार भी आसक्तिशून्य हुआ करता है। गीतामे कहा गया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २।६४)

अन्तःकरण वशमें किया हुआ पुरुष राग-द्वेषरहित, वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको भोगता हुआ भी भगवत्कृपारूप प्रसादको प्राप्त करता है।

विषयोंका सेवन करते-करते जैसे उनमें मनुष्यकी रति उत्पन्न हो जाती है—'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' (गीता २।६२) और उसे रसास्वाद आने लगता है, जिससे वह उन्हींमें अपने आपको खो देता है, वैसे ही भक्तिके पुजारीको साधनभक्ति करते-करते जब उसमें रसास्वाद आने लगता है, तब वह भी विषयरससे विलक्षण एक अननुभूतपूर्व आनन्दका अनुभव करता है, और अन्तमें उसमें अपने आपको सर्वथा विलीन कर देता है। भक्तिरस ही साक्षात् प्रेम या भगवानका स्वरूप है, इसके उदयसे श्याम-सुन्दरमें अकैतव प्रेम हो जाता है।

उपर्युक्त भक्तिरसको भक्तोंने पाँच भेदोंमें विभक्त किया है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। ये सभी रस विलक्षण और अद्भुत हैं। वास्तवमें किसी भी रसका वर्णन लेखनी या वाणी नहीं कर सकती। भगवत्कृपासे भगवज्जन उनका अनुभव ही करते हैं। मेरे-जैसे मनुष्यद्वारा ऐसे भक्तिरसके वर्णनका प्रयास तो बालकके चन्द्रस्पर्शकी चेष्टावत् हास्यास्पद ही है; परन्तु यह प्रयत्न केवल चित्तविनोदार्थ ही है, अतएव पाठकगण इस धृष्टताको क्षमा करेंगे।

शान्तरस

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते है—जो मुझको सर्वत्र देखता है, और सब जगत्को मुझमे देखता है, उसके लिये मै कभी अदृश्य नही होता और वह भक्त मुझसे कभी अदृश्य नही होता। अर्थात् मै सदा उस भक्तको देखता हूँ, और वह सदा मुझे देखता रहता है।

साधन करते-करते साधक अहंता-ममताको विनष्ट कर सर्वत्र केवल एक परमात्माकी सत्ताका ही अनुभव करता है। उसकी समस्त भोग-वासनाएँ भलीभाँति शान्त हो जाती है। जब प्रबल वायुके कारण नदियोमे भयङ्कर तरङ्गे उठने लगती है, तब उनके स्वरूपको अशान्त कहा जाता है। और जब वायुके न रहनेसे लहरे स्थिर हो जाती है, तब उनके स्वरूपको शान्त कहते है। वैसे ही इस शान्तरसमे भोगवासनारूप वायुके नाश हो जानेके कारण प्रमथनशील चञ्चल इन्द्रियोकी दुर्दमनीय वृत्तियोकी तरङ्गे निवृत्त होकर अशान्त अन्तःकरण शान्त हो जाता है और वह केवल एक आनन्दकन्द वृन्दावनविहारीके शान्तस्वरूपमे मग्न रहता है। इसी स्थितिमे भक्त अनन्त, अचल, परम, नित्य, अविकारी, अविनाशी, शाश्वत, शान्तरसको प्राप्त होता है। गीतामे कहा है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २१-२२)

'इन्द्रियोसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामे अनुभव

करता है और जिस अवस्थामे स्थित हुआ यह योगी भगवत्स्वरूपसे चलायमान नहीं होता, जिस शान्त परमानन्दरूप लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नही मानता और शान्त आनन्दमे स्थित हुआ बडे भारी दुःखसे भी कभी चलायमान नहीं होता ।' वास्तवमे यही शान्तरस है । भक्तिशास्त्रोमे शान्तरसका स्वरूप इस प्रकार दिखाया है—

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः ।
स्थायिशान्तरतिर्धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः ॥

'आगे वर्णित होनेवाले विभावादिद्वारा शमतासम्पन्न भक्तोके हृदयमे जो स्थायी शान्तरसका आस्वादन होता है, उसे शान्तभक्ति-रस कहते है ।' जिसमे और जिसके द्वारा प्रेम विभावित हो अर्थात् आस्वाद्य-रूपसे प्रकाशित हो, वह विभाव कहलाता है । इस विभावके दो भेद है—आलम्बन-विभाव और उद्दीपन-विभाव । जिसमे प्रीति विभावित हो, वह आलम्बन-विभाव है । यह आलम्बन-विभाव भी दो प्रकारका होता है—(१) विषयालम्बन और (२) आश्रयालम्बन ।

प्रीति जिसके उद्देश्य हो उसका नाम 'विषयालम्बन' और प्रीति जिसके आधार हो वह 'आश्रयालम्बन' है । जैसे श्रीकृष्ण-प्रेममे श्रीकृष्ण भगवान् विषयालम्बन है और श्रीकृष्णभक्तगण ही आश्रयालम्बन हैं । जिसके द्वारा प्रीति-उद्दीपन हो उसका नाम उद्दीपन-विभाव है, जैसे श्रीकृष्णके आभूषणादि, वस्त्रादि श्रीकृष्णका स्मरण कराते है । (नृत्यादि भी भावको उद्दीपित करते हैं, इनको अनुभाव कहा गया है) । भक्तिरसमे वर्णित भाव सब स्थायी होते हैं । साधनभक्तिमे भाव स्थायी नहीं माने जाते । शान्त

भक्ति-रसके उपासक सनकादि, कपिल मुनि, दत्तात्रेय आदि माने जाते है। भीष्मपितामह भी शान्तरसके उपासक थे। श्रीकृष्ण-प्रेमी होते हुए भी वे श्रीकृष्णकी अनन्त, अखण्ड, असीम, अविनाशी, शान्त-ब्रह्मरूपसे ही उपासना करते थे। भीष्मजीने महाभारतके युद्धमे अपने पैने बाणोसे भगवान्‌का कवच तोड़ दिया था और उनके शरीरसे रुधिरकी धाराएँ बहा दी थी, तो भी वे उन्ही श्रीकृष्णके अनन्य भक्त है और उन्हीका ध्यान करते है—

तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥

(श्रीमद्भा० १।९।४२)

'जन्म-कर्मरहित और अपनेहीसे उत्पन्न किये प्राणियोके हृदयमे जो एक होकर भी अनेकपात्रपतित प्रतिबिम्बद्वारा अनेकधा प्रतीत सूर्यकी भाँति अनेकरूप प्रतीत होता है, उस ईश्वरको भेददृष्टि और मोहसे शून्य चित्तद्वारा मै प्राप्त हुआ हूँ।'

ब्रह्मसंहितामे कहा है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणप्रकाशं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

'प्रेमरूपी अञ्जन जिन भक्तिरूपी नेत्रोमे लगा हुआ है, उन नेत्रोसे भक्तजन सदा अपने हृदयमे भगवान्‌के दर्शन करते है।

उन अचिन्त्य गुणोके प्रकाशक आदिपुरुष गोविन्द श्यामसुन्दरको मै भजता हूँ ।'

जगत्मे कोई दूसरोपर प्रभुता करके आनन्दानुभव करता है तो कोई आश्रित रहकर ही आनन्दका अनुभव करता है; कोई पुत्रकी प्राप्तिसे पिता बनकर आनन्दका अनुभव करता है तो किसीको पुत्र बननेमे ही आनन्द आता है, कोई स्त्रीके प्राप्त होनेमें आनन्द मानता है तो कोई स्त्रीरूपमे ही आनन्दको प्राप्त है; कोई चञ्चल, अस्थिर, अशान्त रहनेमे अपनेको सुखी मानता है तो कोई शान्त, स्थिर रहनेमे ही सुखका अनुभव करता है; कोई सख्य-प्रेममे आनन्द मानता है तो कोई मित्रद्रोहमे ही प्रसन्न होता है । इस प्रकार जगत्मे विभिन्न रुचि है ।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् ।

(शिवमहिम्नस्तोत्रात् ७)

'रुचिभेदसे ही जीव टेढे-सीधे मार्गोका अवलम्बन करते है।' मनुष्य भिन्न-भिन्न रसोका अवलम्बन करके उसीमे डूबा हुआ है और उपर्युक्त सभी सासारिक सम्बन्ध मायिक, नाशवान् तथा क्षणभङ्गुर है; परन्तु मनुष्य आसक्तिवश इन सम्बन्धरसोको भगवान्‌से नही जोडता, इसीसे आनन्दमयकी सृष्टि आनन्दरूप होते हुए भी ('आनन्देन खलु इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३ । ६), 'आनन्दमयोऽभ्यासात् (ब्रह्मसूत्र १ । १२)' इत्यादि वचनोसे आनन्दसे उत्पन्न वस्तु आनन्दरूप ही होती है, निरानन्दमय कैसे होगी ?) उसे दुःखरूप प्रतीत होने लगती है। परन्तु जिस समय वह भगवत्कृपासे या भगवद्भक्तोकी कृपासे सावधान होकर भगवान्‌को

अपना समझ लेता है और अपने सम्बन्धको पहचान लेता है, उसी समय वह दुःख और शोकसे रहित हो जाता है।

ब्रह्माजी कहते हैं—

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३६)

'हे कृष्ण! लोग जबतक पूर्णतया आपके जन नहीं हो जाते तभीतक उनको रागादि चोरोंका डर बना रहता है, तभीतक उनके लिये घर कैदखाना होता है और तभीतक उनके पैरोंमें मोहकी बेडी पडी रहती है।'

दास्यरस

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

(अकालजलदस्य)

दास्यरसका एक उपासक विधाताको नमस्कार करके उनसे प्रार्थना करता है कि 'हे प्रभो! इस शरीरके पाँचों तत्त्व अपने-अपने कारणमें लय तो होनेवाले हैं ही, आप कृपाकर इतना ही करा दीजिये, जिससे इसका जलीय भाग श्रीकृष्णके कूपमें, तेज भगवान्‌के दर्पणमें, आकाशका भाग उनके आँगनमें, पृथिवीका भाग उनके मार्गमें और वायुका भाग प्रभुके पंखेसे होनेवाली वायुमें विलीन हो जाय। मतलब यह कि अलग-अलग होकर भी पाँचों तत्त्व प्रभुकी सेवामें ही लगे रहें।' कैसी चोखी चाह है!

दास्य-रसमे यह भाव रहता है कि नन्दनन्दन श्रीकृष्ण स्वामी है और मै उनका दास हूँ। प्रभुसेवा ही मेरा धर्म है। वह भक्त प्रभुसेवाके लिये अपना सर्वस्व त्याग देता है। प्रभुके अनुकूल ही वर्तता है। सेवा वही है जो प्रभुके अनुकूल हो; जो अपने मनको प्रिय लगे और प्रभुके प्रतिकूल हो, वह तो सेवा नही है। जिसमे अपने मनके प्रतिकूल सेवा करनेमे अरुचि रहती है, उसको दास्यरस नही कहा जाता। दास्यरस वही है जो प्रभुके रुचिके अनुकूल हो, उसमे चाहे अपना मान हो या अपमान। सम्पद्वृद्धि हो या उसका नाश, कुटुम्ब बढे या उसका क्षय हो जाय, शरीर पुष्ट हो या शीर्ण, दीर्घ आयु हो या प्राणनाश—इन सब बातोमे-से उसका न किसीमे राग है, न द्वेष है। वह तो केवल अपने प्रभुकी रुख देखता है। वह रुख, प्रभुकी वह मरजी, सम्पत्ति या ऐश्वर्य बढ़ानेवाली हो या नाश करनेवाली, उसे तो उसकी मरजीमे ही आनन्द और सुख है। प्रभुकी मरजी ही अनुकूल है, प्रभुकी मरजीके खिलाफ सभी प्रतिकूल है; यह केवल भावना या विवेक नहीं, वास्तवमे ऐसा ही ज्ञान होता है। एक दास प्रभुकी सेवामे अनेक स्वादु भोज्य पदार्थ भेजता है; प्रभु यदि भोजन करते है तो उसे आनन्द होता है, नही भोजन करते है तो चित्तमे क्लेश होता है। पर दास्यभक्ति-रसके उपासक प्रभुकी रुचि भोजन न करनेकी जान लेते है तो उनके भोजन न करनेमे ही उन्हे प्रसन्नता होती है। एक दास प्रभुके लिये अनेक आभूषण और वस्त्र भेजता है, प्रभु उनको लेकर नदीमे फेक देते है। दास्यभक्ति-रसका तत्त्व न जाननेवाले लोग इससे दुःखी हो सकते हैं, पर दास्यभक्ति-रसके

उपासकको इसमे आनन्द होगा, क्योंकि प्रभुकी यही मरजी है। वह तो प्रभुका दास है, किसी अन्यका नही; प्रभु जिसमे प्रसन्न हो, उसीमे वह प्रसन्न है। भक्तिग्रन्थोमे दास्यरसका वर्णन करते हुए कहा गया है—

दासास्तु प्रश्रितास्तस्य निदेशवशवर्तिनः।
विश्वस्ताः प्रभुताज्ञानसुविनम्रधियश्च ते॥

'प्रभुके दास विनयी, आज्ञाकारी, विश्वासी, स्वामीकी महिमाके ज्ञानयुक्त और विनम्र बुद्धिवाले होते है।' भगवान्‌के दास स्वामीके समीप सदैव नीची नजर किये रहते है, वे ऊँची दृष्टि ही नही करते। स्वामी जो कुछ भी आज्ञा करते है, उसके पालनमें किञ्चिन्मात्र भी पीछे नही हटते। स्वामी उन दासोको जो कोई वस्तु या बात गुप्त रखनेको कहते है, वे उसकी विश्वस्ततासे रक्षा करते है और अपने प्रभुसे अधिक कुछ नहीं है ऐसा मानते हुए सदा-सर्वदा विनयी बने रहते है। दास्यभक्ति-रसमे चार बातें बाधक है—सकामभाव, अभिमान, आलस्य और विषयासक्ति।

भक्तिशास्त्रोमे दास्य-भक्तोके चार भेद किये है—

अधिकृत, आश्रित, पारिषद और अनुग।

अधिकृत दास—जिनको नियमित कार्यका अधिकार दिया गया हो; जैसे ब्रह्मा, इन्द्र, यमादि।

आश्रित दास—कालियनाग, बहुलाश्व राजा, इक्ष्वाकु आदि।

पारिषद दास—उद्धव, दारुक, सात्यकि, श्रुतदेव आदि।

अनुग दास—सुचन्द, मण्डन, स्तम्ब, सुतम्ब, ये लोग व्रजमे श्यामसुन्दरकी सेवामे रहते थे और श्यामके सदृश ही वस्त्राभूषण धारण करते थे।

दास्यभक्तिके पुजारी अपने आनन्दको सर्वथा त्यागकर सेवा-कार्यमे ही तत्पर रहना चाहते है, इसीने उन्हे परमानन्द मिलता है। एक समय दारुक सारथि श्रीनन्दनन्दनको थके हुए देख रथमे ही भगवान्को हवा करने लगा और जब श्रीकृष्ण निद्रित हो गये, तब वह भगवान्की रूपमाधुरीको निरखता और पंखा झलता हुआ मन-ही-मन कहने लगा—

नैन चकोर मुखचंदहूपै वारि डारौं,
वारि डारौं चित्तहि मनमोहन चितचोर पै।
प्राणहूकों वारि डारौं हसन दसन लाल,
हेरन कुटिलता औ लोचनकी कोर पै॥

नेत्रोद्वारा रूपमाधुरीका पान करते-करते जब आनन्दकी वृद्धिसे सेवामे किञ्चित् आलस्य आता देखा, तब वह हडबड़ाकर अपने मनके आनन्द और सुखसे प्रार्थना करके कहने लगा—'हे आनन्द! मै तुम्हे नही चाहता, तुम मेरे हृदयसे तुरन्त हट जाओ; तुम्हारे आनेसे प्रभु-सेवामे विघ्न होनेकी सम्भावना है, इसलिये तुम त्याज्य हो।'

सख्यरस

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यवर्ह-
धातुप्रवालनटवेशमनुव्रतांसे ।

विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥

'श्यामशरीरपर सुवर्णपीतपट ऐसा जान पड़ता है मानो श्यामघनघटामे इन्द्रके धनुपका मण्डल शोभायमान है। गलेमे वनमाला है, मोरके पंख, धातुओके रंग और नवपल्लवोसे सुसज्जित विचित्र नटवर वेप देखने ही योग्य है। एक सखाके कंधेपर दाहिना हाथ रक्खे हुए बाएँ हाथसे आप कमलका फूल घुमा रहे है; कानोमे कमल, कपोलपर काली-काली अलके और प्रफुल्ल मुखकमल-मे हँसीकी अपूर्व शोभा है।'

इस रसमे श्रीकृष्ण विपयालम्बन और उनके प्रिय सखागण आश्रयालम्बन है। इस रसके पुजारी श्रीकृष्णसे अपने मित्रत्वका सम्बन्ध मानते है। जहाँ मित्रता है, वहाँ ऊँच-नीचका व्यवहार नहीं होता। व्यवहारमे समता रहती है। श्रीकृष्णको कोई कुछ भी माने, या उनका कितना ही प्रभाव बतावे, सखा किसी मर्यादाके बन्धनमे नही रहता। मित्रत्वके सम्बन्धसे जब जैसे व्यवहारकी आवश्यकता होती है, वह वैसा ही करता है। अर्जुन श्रीकृष्णको आज्ञा देता है—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ (गीता १।२१)

'दोनो सेनाओके बीच मेरा रथ खड़ा करो'—और श्रीकृष्ण भी तुरन्त वैसा ही करते हैं। दोनों ओरसे संकोचशून्य व्यवहार है। महाभारत-युद्धके समय अपने प्यारे सखाके घोड़ोको यमुनाजीमें ले जाकर स्नान कराना श्रीकृष्णका दैनिक कार्य था। युद्धकालमे

घोड़ोकी लगाम और चाबुक हाथमे लेकर आप सूतस्थान (कोचबक्स) पर बैठ जाते थे, घोड़ोंकी टापोसे उडती हुई धूलि श्यामसुन्दरके घुँघराले बालोपर और मुखचन्द्रपर अपूर्व शोभा देने लगती थी ।

बाल्यावस्थाके व्रजसखाओसे तो आपके कटु-मधुर वचन, मान-अपमान, मार-पीट, उच्छिष्ट भोजन करना-कराना, दाव देना-लेना आदि सभी कुछ स्वच्छन्दतासे चलता था । कही विषमताका नाम भी नही था । श्रीकृष्ण जब अपने बालसखाओके साथ वनमे गैया चराने जाते थे, तब माता यशोदा तथा गोपिकाएँ सभी अपने-अपने लालोके लिये वनमे खानेको कुछ भोजन साथ दे देती थीं । व्रज-बालकगण गौओंको किसी सुरम्य स्थानपर यमुनातटपर चरनेको छोड़ देते । भोजनके पदार्थोको छीकोमें रखकर गाछमे लटका देते और स्वयं अनेक प्रकारके खेल खेलने लगते । कोई वंशी बजाता, कोई सींग बजाता, कोई भ्रमरकी ज्यो गुनगुनाता, कोई कोयल, मोर या बंदरकी बोली बोलता, कोई पक्षियोकी छाया पकड़ने दौड़ता, कोई हंसकी ज्यो चलता, कोई बगुलेकी ज्यो बैठता, कोई मोरकी ज्यो नाचता, कोई बंदरकी भाँति कूदता और कोई मेढककी ज्यो उछलता । इस प्रकार अनेक भाँतिकी क्रीडाएँ करते-करते जब उन्हे भूख लगती, तब जहाँ छीके टँगे रहते वहाँ सब लौट जाते । यहाँ भी वही क्रीडा होती, एक दूसरेके छीके लोग पीछेसे उतार लेते । कोई किसीका छींका छिपा देता । इस प्रकार आपसमे हँसी-मजाक चलता । आखिर सब मिलकर किसी वृक्षकी सुन्दर छायामे बैठ अपने-अपने छींके खोलकर भगवान्‌के साथ भोजन करते । उनके बैठनेका शुकदेवजी वर्णन करते है—

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलै-
रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु-
श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः॥
(श्रीमद्भा० १०।१३।८)

'प्रफुल्लनयन सब ग्वालबाल व्रजमे कृष्णको चारो ओरसे घेरकर उन्हींकी ओर मुख करके मण्डली बनाकर बैठे, उस समय कृष्ण तो कमल-कुसुमकी कर्णिका और गोपबालक सब पँखुडीके समान शोभायमान हुए।'

अब यहाँकी लीलाको देखिये—सब ग्वालबाल अपने-अपने भोजनको, कोई पत्तोपर, कोई फूलोपर, कोई पत्थरपर सामने रखकर भोजन करने लगे। बीचमे बैठे श्रीकृष्ण भोजन करते है।

गोपबालक बढिया चीज खुद कैसे खायँ ? नन्दनन्दन तो उनके जीवन-प्राण है। कोई एक लड्डू लाया था, उसे मुखमे ले लिया। खाने लगा, पर ज्यो ही जीभको यह पता लगा कि यह तो बहुत ही स्वादिष्ट है, वही उसका खाना रुक गया। कृष्णको अपनी ओर खीचा और अपने मुँहसे निकालकर वह लड्डू तुरन्त उनके मुखमे दे दिया। क्या ही अनोखा भाव है! ऐसे ही सभी बालक अपनी-अपनी जूँठन बडे त्याग और प्रेमसे श्रीकृष्णको खिला रहे है। श्रीकृष्ण उनके अतिप्रिय थे। कभी-कभी गोपबालक भी श्रीकृष्णका भोजन उनके हाथसे छीनकर खा जाते थे। श्रीकृष्ण भगवान्‌को पवित्र अनुच्छिष्ट पदार्थोंका भोग लगानेवाले भक्त तो सदैव मिलते रहते है; पर ऐसे प्यारे भक्त दुर्लभ है, जो स्वादिष्ट उच्छिष्ट पदार्थको

निःसंकोच अर्पण करें । यह सख्य-रसास्वाद वैकुंठमे भी दुर्लभ है। इस रसका पानकर केवल गोपसखा ही सुखी नहीं होते थे, स्वयं ठाकुर भी इसी दुर्लभ रसके लिये गोकुलमे पधारे थे।

खेलनेमे भी वही खुला खाता था, कही संकोचका नाम नहीं। दाव देने-लेनेमे, मार-पीटमे, कृष्णका कुछ भी मुलाहिजा नहीं। नटखट कृष्णने कही कुछ गडबड़ की तो तुरन्त सब बालकोने मिलकर उसे खेलसे अलग कर देनेका प्रस्ताव पास किया। जैसा प्रस्ताव, वैसा ही काम भी। चलो निकलो यहाँसे! श्यामसुन्दर ढीले पड़े और लगे खुशामदे करने। एक दिन ऐसा ही हुआ। सखाओने वह फटकार बतायी कि वैकुंठमे बैठकर यमराजको डरानेवाले ब्रह्मकी सारी ताकत गुम हो गयी। लगे गिड़गिडाकर क्षमा माँगने। क्योंकि साथ खेले बिना इनसे भी तो रहा नही जाता था।

खेलनमें को काको गुसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रुसैयाँ॥
जाति-पाँति हमते बड़ नाहीं, ना हम बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत ताते, जाते अधिक तुम्हारे गैयाँ॥
रूठ करे तासों को खेलै, हाहा खात, परत तब पैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यो ही चाहैं, दाँव दियो कर नंद दुहैयाँ॥

(सूरसागर)

'क्या हुआ जो हजार दो हजार गौएँ ज्यादा है, खेलना है तो ईमानदारीसे खेलो। नही तो दूर होओ हमारे दलसे अभी! यह रूठना हमे नहीं सुहाता!'

सच बात तो यह है, श्रीकृष्ण इन फटकारोको (जो उन्हे वैदिक

स्तुतिसे भी कहीं अधिक प्रिय होती है) सुननेके लिये ही ऐसी चालें चला करते थे । खुशामदकी स्तुतियाँ और यशोगान करनेवाले भक्त तो सदा ही मिलते रहते है, फटकार बतानेवाले भक्त दुर्लभ है !

मित्रोकी डॉट सुने कई दिन हो गये, मनमोहनकी इच्छा हुई कि आज मित्रोके प्रेमभरे वाग्बाण सुने । आपने कहा, 'भैया ! आज सारी गायोको सब एक ही साथ मिलकर चरावेगे । अलग-अलग करनेसे ठीक सम्हाल नही होती । आज सब मिलकर ही सम्हाल रक्खो ।' सबने कहा, ठीक है ! ऐसा ही हुआ । थोडी ही देरमे इधर-उधर ताककर श्याम खिसके और जाकर पेड़की शीतल छायामे सो गये । गोपबालकोने सोचा, 'कुछ थक गया होगा, अभी सोकर उठेगा तो काम करेगा ।' श्रीकृष्णके मनकी बात नही बनी । इससे आप उठे और सखाओसे बिना कुछ कहे-सुने ही एक सुहावने कदम्बपर चढकर लगे वंशी बजाने । ग्वालबालकोने यह देखकर परस्पर कहा, यह तो बडा शरारती है । अपनी गाये हमे सम्हलाकर खुद पहले तो सो रहा और अब आनन्दसे कदम्बपर चढकर वंशी बजाता है । गौओके पीछे धूपमे इधर-उधर दौडना तो हमारे जिम्मे और सुखसे चैनकी वंशी बजाना इसके ! कैसा चतुर-चूडामणि है ? इसीलिये इसने आज सब गायोको शामिल करवाया था । चलो, अलग करो इसकी गायोको; बडा है तो अपने घरमे है । सखा खीझ गये और बोले—

न्यारी करो, हरि ! आपनी गैयाँ ।
नाहिन बनत, लाल, हम तुमसों,
कहा भयो, दस गैयाँ अधिकैयाँ ॥

ना हम चाकर नंदबाबाके,
ना तुम हमरे नाथ-गुसैयाँ ।
आपन रहत नींदको मातो,
हम चारत तेरी बन बन गैयाँ ॥
कबहूँ जाय कदँब चढ़ि बैठे,
हम गैयन सँग लगत पठैयाँ ।
मानी हार सूरके प्रभुने,
अब नहिं जाउँ मोहि नँदकी दुहैयाँ ॥
(सूरसागर)

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि श्रीकृष्णके ये बालसखा श्यामसुन्दरको केवल फटकार ही बताते थे, वे उन्हे प्राणोसे बढकर प्यार भी करते थे। श्रीकृष्णकी तनिक-सी उदासी उनके मनको असह्य हो उठती थी। वे उन्हे जरा-सी भी तकलीफमे नहीं देखना चाहते थे। भगवान्ने जब गोवर्धन-पर्वतको हाथपर उठा लिया, तब इन सरल बालसखाओने भी अपनी-अपनी लकुटियोका सहारा लगाकर उन्हे सहायता दी। अन्तमे ये उनसे कहने लगे—

उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्तक्षपास्तिष्ठतो
हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे श्रीदामपाणौ गिरिम् ।
आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किं वा क्षणं दक्षिणे
दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम् ॥

'हे श्यामसुन्दर! तूने बिना ही सोये खड़े-खड़े सात राते बिता दीं। तुझे बड़ा कष्ट हो रहा होगा; अब यह पहाड़ श्रीदामको दे दे, वह इसे उठा लेगा। तेरा कष्ट देखकर हम लोगोको बड़ा कष्ट हो रहा है। यदि तू हमारी यह बात नहीं मानता तो कम-से-कम पहाड़को

बायें हाथसे दाहिनेपर तो ले ले। इतनेमे हम तेरा बायाँ हाथ मल देंगे, जिससे तेरी पीड़ा तो मिट जायगी।' बलिहारी!

भक्तिग्रन्थोमे श्रीकृष्णके सखा चार प्रकारके बतलाये गये है—

१ *सुहृद्*—जो श्रीकृष्णसे उम्रमे बड़े थे और श्रीकृष्णकी सम्हाल रक्खा करते थे, यथा—सुभद्र, बलभद्र, मण्डलीभद्र, गोभट, इन्द्रभट आदि।

२ *सखा*—जो श्रीकृष्णसे उम्रमे छोटे थे, जैसे—विशाल, देवप्रस्थ, वृषभ, ओजस्वी आदि।

३ *प्रियसखा*—जो श्रीकृष्णके समानवयस्क थे, जैसे श्रीदाम, सुदाम, दाम, वसुदाम, अंशु, भद्रसेन आदि।

४ *प्रियनर्मसखा*—जो विशेष भावपूर्ण और रहस्यकी लीलाओमे श्रीकृष्णके साथ रहते थे, यथा—सुबल, अर्जुन, वसन्त, उज्ज्वल आदि।

वात्सल्यरस

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।१)

'हे स्तुतिके योग्य! मै आपको प्रणाम करके आपकी स्तुति करता हूँ। आपके नीलनीरदश्याम शरीरमे पीतपट बिजलीके समान शोभा पा रहा है, घुँघचीके गहने कानोमे और मोरपुच्छका मुकुट मस्तकपर शोभा दे रहा है, गलेमे वनमाला है, भोजनकी सामग्रीका कौर,

बेन, सींग और मुरली आदि आप हाथमे लिये हुए हैं तथा हे गोपनन्दन ! आपके चरणसरोज बड़े ही सुकुमार है ।'

वात्सल्यरसमे भगवान्‌की ठीक बालक समझकर ही उपासना की जाती है । इस रसमे विभूति और ऐश्वर्यका ज्ञान नही रहता; यहाँ तो जैसे माता-पिता अपने छोटे बच्चेको जिस स्नेहसे पालते और उसका सर्व प्रकार हितचिन्तन करते है, वही भाव रहता है । हमारे लालको कहीं कष्ट तो नहीं हो गया, बच्चा कहीं भूखा तो नहीं है, उसके लिये कौन-कौन-से खिलौने मॅगवाने है ? बस, यही चिन्ता रहती है । घरका सारा काम-काज छोड़कर माता इसी काममे प्रधानतासे लगी रहती है और इसीमे उसे परम सुख मिलता है । श्यामसुन्दरके वात्सल्यरसके उपासकोंमें माता यशोदा, रोहिणी, देवकी, नन्दबाबा, वसुदेवजी आदि थे । माता यशोदा-को तो सवेरेसे लेकर रातको सोनेतक अपने प्यारे ललाके नाना प्रकारके कामसे कभी छुट्टी ही नहीं मिलती थी । सवेरा होते ही माता जगाने लगती—

जागो वंसीवारे ललना, जागो मोरे प्यारे ।
रजनी बीती, भोर भयो है, घर घर खुले किवाँरे ॥

कृष्णललाके उठनेपर माता उनके आँख-मुँह धोकर अपने बहुमूल्य ऑचलसे पोछती है, नये कपड़े पहनाकर दूध पिलाती है, गोदमे लिये मोदभरी इधर-उधर घूमती है, कभी लालको माखन-रोटी देकर आँगनमे बैठा देती है । कौआ आता है, रोटी छीनकर ले जाता है । ललाजी रोते है, कागके पीछे दौड़ते है । ऑगनमे बिखरी माखन-रोटीकी जूँठन कौए, मोर और बंदर ले जाते है,

श्रीकृष्ण रोटी बगलमे छिपाते है, पर बंदर हाथसे छीन भागते है; श्यामसुन्दर पीछे दौडते है, बंदर घुड़की देता है तो रोने लगते है, कभी-कभी बंदरोका-सा मुँह वनाकर बदलेमे आप भी घुडकी देते है। माता देखकर दौड़ती है, प्रसन्न होती है। एक दिन श्रीकृष्ण खेलमे रम गये, खानेतककी सुधि न रही, सारा शरीर धूलसे सन गया। माता दौडकर गयी और कहने लगी—

कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक॥
हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन।
प्रातरेव कृताहारस्तद्भवान् भोक्तुमर्हति॥
प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः।
एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः॥
× × × ×
धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र मज्जनमावह।
जन्मर्क्षमद्य भवतो विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः॥
पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टान् स्वलंकृतान्।
त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलंकृतः॥

(श्रीमद्भा० १०।११।१३–१७)

'हे कृष्ण, हे मेरे प्राणधन, हे कमललोचन, आ, दूध तो पी ले। बहुत खेल चुका; अब, बेटा, भूख लगी होगी, खेलते-खेलते थक गया होगा। लाल बलराम, अपने छोटे भाईको साथ लेकर जल्दी चला आ। तुम दोनोने बहुत सवेरे कलेवा किया था, अब तो भोजनका समय है। आओ, दोनो भोजन कर लो। व्रजनाथ (श्रीनन्दजी) रसोईमे बैठे तुम्हारी बाट देख रहे है। आओ, हमे प्रसन्न करो;

बडी अबेर हो गयी है, तुम्हारे साथी बच्चोंको भी अपने-अपने घर जाने दो। मेरे चाँद! तेरा शरीर धूलसे भर गया है, आकर नहा ले। आज तेरा जन्मोत्सव है, नहा-धोकर ब्राह्मणोंको गो-दान दे। देख तेरे ये कितने ही साथी कैसे अच्छे लगते हैं, इनकी माताओंने इन्हे नहला-धुलाकर अच्छे-अच्छे गहने-कपडे पहनाये हैं; तू भी स्नान करके भोजन कर ले और अच्छे-अच्छे कपडे-गहने पहनकर फिर यहाँ आकर खेल।' खेलमे रमे हुए ब्रह्मादिवन्दित श्याम जब नही उठे तो माता हाथ पकडकर उन्हे घर ले गयी।

माता यशोदा अपने श्यामलल्लाको आँगनमे बैठाकर दूसरे काममे लग गयी थी, इतनेमे ही असुर तृणावर्त आँधीके रूपमे आकर उन्हे उठा ले गया। फिर जब भगवान्‌के द्वारा मारा जाकर वह नीचे गिरा तो श्रीकृष्ण उसके शरीरपर खेलने लगे। गोपियोंने दौडकर मूर्छित यशोदाको जगाकर कहा कि तुम्हारे पूर्वपुण्यसे श्यामसुन्दर सकुशल है। यशोदा दौडी और पुत्रको गोदमे उठाकर कहने लगी, मुझे धिक्कार है जो मै अपने लालका भार भी न सह सकी और इसे गोदसे उतारकर नीचे बैठा दिया। उस माताको धिक्कार है जो बच्चेका भार न सह सके—

नवनीतमिवातिकोमलो
व्यथते यो बत मातुरङ्कतः।
स कथं खरपांशुशर्करा-
तृणवर्षं सहते स्म मे सुतः॥

'मेरा लाल तो नवनीतसे भी अधिक कोमल है, इसको मेरी

स्नेहभरी गोदमे भी पीडा हुआ करती है। हाय! इसने प्रचण्ड धूल-कंकड और तृणोकी वर्षाको कैसे सहा होगा?'

एक दिन माताने श्रीकृष्णको ऊखलसे बाँधना चाहा, रस्सी दो अंगुल छोटी होती गयी। आखिर माताको थकी समझकर भगवान् आप ही बँध गये—

जिन बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल कर्मकी डोरी।
सोइ अविछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥

(विनयपत्रिका)

इसी मधुर अवस्थाको दिखलाती हुई भावुक गोपबाला अनन्त ब्रह्मको वेदोमे खोजनेवाले ब्रह्मोपासकोके प्रति कहती है—

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीना-
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

(लीलाशुकस्य)

'वेदोमे ब्रह्मको खोजते-खोजते उन्हे न पाकर दुखी हुए ब्रह्मप्रेमी ऋषियो! इधर सुनो, हम बतावे तुम्हारे ब्रह्मको; यदि तुम वास्तवमे ब्रह्मका साक्षात् दर्शन चाहते हो तो उस गोपीके घरपर जाकर देखो, जहाँ वह उपनिषद्का तत्त्व ब्रह्म ऊखलमे बँधा बैठा है।'

उस वात्सल्यरसकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है, जिसको पान करनेके लिये स्वयं त्रिभुवनपतिको गोपकुलमे आकर ऐसी लीला करनी पडी!

माधुर्यरस

अधरं मधुरं वदनं मधुरं
नयनं मधुरं हसितं मधुरम् ।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं
मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं
वसनं मधुरं वलितं मधुरम् ।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं
मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥

(श्रीवल्लभाचार्यस्य श्रीमधुराष्टकात्)

श्रीश्यामसुन्दरके सब अंग, सब वस्तु, सब चरित्र और सारे व्यवहार ही मधुर है । इस रसमे रूपमाधुर्य, वेणुमाधुर्य, लीला-माधुर्य और प्रेममाधुर्यके आधारभूत श्रीकृष्ण ही एकमात्र विषया-लम्बन है और व्रजाङ्गनाएँ आश्रयालम्बन है ।

इसमे वंशीध्वनि, वसन्तऋतु, कोयलका स्वर, नवजलधर और केकीकण्ठ इत्यादि उद्दीपन विभाव है; और कटाक्ष, हास्य, नृत्य आदि अनुभाव है; इस रसके अन्यान्य भी अनेक भाव है। श्रीमती राधिका और अन्य कतिपय गोपिकाएँ इस रसकी उपासिका मानी जाती है । इस रसमे श्यामसुन्दरसे क्या सम्बन्ध है, इस बातका निर्णय होना कठिन है । कोई-कोई इसे कान्ताभाव या शृङ्गाररस भी कहते है । इस रसमे दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि सभी भाव आते-जाते रहते है । इसमे जब श्रीमतीजी कृष्णकी सेवा करती

है तब दास्यभाव और जब श्रीकृष्ण राधिकाकी सेवा करते है तब सख्यभाव है। जैसे—

ब्रह्म मैं ढूँढ़्यो पुरानन वेदन, भेद सुन्यो चित चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो न कहूँ कबहूँ, वह कैसो सुरूप औ कैसे सुभायन॥
हेरत हेरत हारि फिर्यो रसखानि, बतायो न लोग-लुगायन।
देख्यो कहूँ वह कुंज कुटीरमें बैठो पलोटत राधिका-पायन॥

(रसखान)

कभी-कभी श्रीमतीजी इसी चिन्तामे मग्न हो जाती है कि श्रीकृष्ण जब कुञ्जमे आते है तो उनके कोमल चरणकमलोमे कंकड़-पत्थर-काँटे चुभते होगे। यहाँ वात्सल्यभाव आ जाता है। इस रसमे कभी श्रीमतीजी श्रीकृष्ण बनती है और कभी श्रीकृष्ण राधा बनते है। एक भक्त कहते है—

मोरपखा, गरे गुंजकी माल, किये नवभेष, बड़ी छबि छाई।
पीतपटी दुपटी कटिमें लपटी, लकुटी 'हठी' मो मन भाई॥
छूटी लटैं, डुलैं कुंडल कान, बजै मुरली धुनि मंद सुहाई।
कोटिन काम गुलाम भये, जब कान ह्वै भानुलली बनि आई॥

(हठी)

इस रसमे श्रीराधाजी श्रीकृष्णनाम जपती है और वह श्रीकृष्ण-स्मरणमे ऐसी मग्न हो जाती है कि—

स्याम-स्याम रटत प्यारी आपहि स्याम भई।
पूँछत निज सखियनसों, प्यारी कहाँ गई॥

उधर श्रीकृष्ण राधा-राधा रटते है—

नामसमेतं कृतसङ्केतं वादयते मृदु वेणुम्।

(श्रीजयदेवस्य—गीतगोविन्दात्)

कभी श्रीकृष्ण मान करते हैं तो श्रीराधिकाजी मनाती हैं, और कभी श्रीराधिकाजी मान करती हैं तो उन्हें श्रीकृष्ण मनाते हैं।

इस रसमें कभी-कभी उन्मत्तकी-सी दशा हो जाती है और प्रेमकी इतनी गाढ़ता होती है कि प्रेमीके लिये सर्वस्वका त्याग हो जाता है। जैसे—

> घर तजौं, बन तजौं, नागर-नगर तजौं,
> बंसीबट-तट तजौं, काहूपै न लजिहौं।
> देह तजौं, गेह तजौं, नेह कहो कैसे तजौं,
> आज राज काज सब ऐसे साज सजिहौं॥
> बावरो भयो है लोक, बावरी कहत मोकौं
> बावरी कहेतें मैं काहू ना बरजिहौं।
> कहैया-सुनैया तजौं, बाप और भैया तजौं,
> दैया तजौं मैया! पै कन्हैया नाहिं तजिहौं॥
>
> (नागरीदास)

यह रस विलक्षण है, इसके विशेष लिखनेका अधिकार नहीं!

बोलो श्रीकृष्ण भगवान्की जय!

श्रीरामतत्त्व
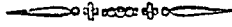
प्रजावत्सल श्रीराम

कौसलपुरबासी नर-नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहु तें प्रिय लागहीं सब कहँ राम कृपाल॥

(श्रीराम० बाल०)

उमा अवधवासी नर-नारि कृतारथरूप।
ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप॥

(श्रीराम० उत्तर०)

जगत्मे अनेक राजा हो चुके है और होगे; पर रघुकूलभूषण अवधेश श्रीरामके समान न कोई हुआ, न होगा। आज भी संसार-मे जब कोई किसी राज्यकी प्रशंसा करता है तो सर्वोच्च प्रशंसामे वह यही कहता है कि यहाँ तो 'रामराज्य' है। इससे सिद्ध है श्रीरामका राज्यशासन ही आदर्श था। वास्तवमे यदि कोई सब इतिहासोका तुलनात्मक अध्ययन करे तो उसे यही कहना होगा कि श्रीरामराज्यके सदृश सुशासन और किसीके भी राज्यकालमे नही हुआ। रामराज्यकी इतनी प्रशंसा क्यो है? इस बातको यदि कोई जानना चाहते हो तो देखिये—एक समय दशरथ महाराजके हृदयमे यह इच्छा हुई कि मै वृद्ध हो गया हूँ, श्रीराम राज्यके सर्वथा योग्य हैं, इनको युवराजपदपर अभिषिक्त किया जाय। अपने इस मनोरथको महाराजने सभामे सबको सुनाया और सभीने सुनकर

अति हर्ष प्रकट किया एवं सभी महाराज दशरथसे अनुरोध करने लगे कि श्रीरामको शीघ्र ही युवराजपद दिया जाना चाहिये । इस समय राजा दशरथ प्रजाका भाव जाननेके उद्देश्यसे अवधवासी प्रजा तथा अन्यान्य राजाओसे प्रश्न करते है—

'आप लोग मेरे कहनेसे ही श्रीरामको क्यो राजा बनाना चाहते है ? जब मै धर्मानुसार राज्यशासन कर रहा हूँ तब आप लोग श्रीरामको क्यो राजा देखना चाहते है ? मुझे सन्देह हो रहा है, इसे आप दूर कीजिये ।' उत्तरमे लोगोंने कहा—'हे राजन् ! आपके पुत्र श्रीराममे अनन्त गुण है, उन गुणोके कारण ही हम सब लोग उनपर मुग्ध हैं और इसीलिये हम श्रीरामको अपना राजा देखना चाहते है ।'

'श्रीराम सत्य व्यवहारके कारण सत्पुरुष कहलाते हैं । धर्मकी शोभा श्रीरामसे ही है, श्रीरामके बिना सभी अशोभन है । जिस प्रकार चन्द्रमा सब प्राणियोको आनन्द देनेवाला है उसी प्रकार श्रीराम सब प्रजाको आनन्द देनेवाले है । क्षमामे श्रीराम पृथ्वीके समान हैं । बुद्धिमे श्रीराम बृहस्पतिके समान है । वीर्यमे श्रीराम साक्षात् इन्द्रके समान है । श्रीराम धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और शीलवान् है । श्रीराम किसीकी निन्दा नहीं करते । श्रीराम सब प्राणियोसे सत्य और प्रिय बोलनेवाले है । श्रीराम समझानेवाले, चतुर, कृतज्ञ और जितेन्द्रिय है । श्रीराम बहुश्रुत, वृद्ध-ब्राह्मणोकी सेवा करनेवाले है । श्रीराम देवता, मनुष्य और असुरोंके सब अस्त्रोंमे निपुण है । श्रीरामने समस्त विद्याओको नियमित ब्रह्मचर्य-

के साथ अध्ययन करके व्रतस्नान किया है। श्रीराम वेदोको अंग और उपांगोसहित अच्छी प्रकार जाननेवाले है। श्रीराम गन्धर्व-शास्त्रोके जाननेवाले है। श्रीराम कल्याणके आश्रय हैं। श्रीराम परम विनयी है। श्रीराम संग्राममे जाकर विना विजय पाये नहीं लौटते। श्रीराम संग्रामसे लौटकर सब पुरवासियोसे अपने परिवारके लोगोके समान पुत्र, स्त्री, शिष्य, भृत्य और अग्निहोत्र आदिका कुशल-समाचार पूछते है। श्रीराम ब्राह्मणोसे पूछते रहते है कि आपके छात्र-शिष्य आपकी सेवा तो करते है? श्रीराम जब किसीपर आपत्ति देखते है तो दुखी होते है और उसको दूर करते है। श्रीराम वृद्धोकी सेवा करनेवाले है। श्रीराम सत्यवादी वीरोंकी उन्नति देखकर पिताके समान प्रसन्न होते है। श्रीराम धर्मका पालन करनेवाले है। श्रीराम मुस्कुराकर बोलनेवाले है और सदा प्रसन्न रहते है। श्रीरामकी किसीके साथ लडाई-झगडा करनेकी रुचि नहीं होती। श्रीराम किसी भी विपयमे आसक्त नही है। श्रीराम व्यर्थ क्रोध या हर्ष नही दिखाते। श्रीराम थोड़े भी उपकारसे प्रसन्न हो जाते है और अनेक अपकार करनेपर भी किसीसे द्वेष नही करते और श्रीराम प्रमादविहीन, आलस्यशून्य है।'

'ऐसे सत्यपराक्रमी लोकपालके सदृश महान् गुणी श्रीरामको समग्र पृथ्वी अपना स्वामी बनाना चाहती है।'

वास्तवमे रामराज्यमे प्रजाको जितना सुख था, उतना सुख और किसीके राज्यमे नही हुआ। निःसन्देह यह अति सौभाग्यकी बात हो, यदि हमे श्रीरघुनाथजी-जैसे राजाकी प्राप्ति हो। श्रीरामके बाल्यावस्थाके ही स्वाभाविक गुणोसे प्रजा अत्यन्त मुग्ध थी, राज्या-

भिषेकके पूर्वसे ही बालक श्रीरामने अवधवासियोंके मनको चुरा लिया था। गोस्वामीजी महाराज दिखाते हैं—

अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता आग्या अनुसरहीं॥
जेहि बिधि सुखी होंहि पुर-लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥

(रामायण बाल०)

महाराज दशरथके मुखसे राम-राज्याभिषेककी बात सुनकर प्रजाके हर्षका पार नहीं रहा।

राम-राज-अभिषेकु सुनि हिय हरषे नरनारि।
लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि॥

(रामायण बाल०)

इधर श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारियाँ हो रही हैं, उधर प्रभुकी इच्छा कुछ और ही थी और हुआ भी वही। अवधके राज्य-शासनके स्थानमें वनका शासन और रक्षण श्रीरामको मिला। श्रीरामकी वनयात्राके समय प्रजाकी व्याकुलता देखिये—

सजि बन-साज-समाज सब बनिता बंधु समेत।
बंदि बिप्र-गुर-चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत॥
चढ़ि रथ सीयसहित दोउ भाई। चले हरषि अवधहि सिर नाई॥
चलत राम लखि अवध अनाथा। बिकल लोग सब लागे साथा॥
कृपासिंधु बहुबिधि समुझावहिं। फिरहिं प्रेमबस पुनि फिरि आवहिं
सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥
सबहिं बिचार कीन्ह मनमाहीं। राम लषन सिय बिनु सुख नाहीं॥
जहाँ राम तहँ सब सुख-साजू। बिनु रघुबीर अवध नहि काजू॥
बालक बृद्ध बिहाइ गृह लगे लोग सब साथ॥
तमसा तीर निवास किअ प्रथम दिवस रघुनाथ॥

(श्रीरामचरितमानस अयोध्या०)

इस प्रकार सब प्रजा श्रीरघुवंशभूपणके साथ वनगमनके लिये तैयार हो गयी। पर अपनी प्रजाको सुख देनेवाले प्रजावत्सल राम सोचते है कि वनमे प्रजाको अनेक दुःख भोगने पड़ेंगे, वहाँ अवधके समान आराम नहीं है; अतः आप प्रजाको अनेक प्रकारसे समझाते है—

रघुपति प्रजा प्रेमबस देखी। सदय हृदय दुख भयेउ बिसेषी॥
कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए। बहुबिधि राम लोग समुझाए॥
किए धरमउपदेस घनेरे। लोग प्रेमबस फिरहिं न फेरे॥

(श्रीरामचरितमानस अयोध्या०)

जब इस प्रकार बहुत समझानेपर भी अवधवासी प्रजा श्रीरामका संग नहीं छोडती, तब श्रीरामको बाध्य होकर रात्रिके समय प्रजाको सोई हुई छोड़कर वनगमन करना पड़ता है।

तदनन्तर जब श्रीभरतजी श्रीरामसे मिलनेको जानेकी इच्छा प्रकट करते है, उस समय पुरवासियोके आनन्द और उत्साहको देखिये—

भरतबचन सब कहँ प्रिय लागे। रामसनेह-सुधा जनु पागे॥
अवसि चलिअ बन रामपहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह।
सोकसिंधु बूड़त सबहि तुम अवलंबन दीन्ह॥
कहहिं परसपर भा बड़ काजू। सकल चलइ कर साजहिं साजू॥
जेहि राखहिं घर, रहु रखवारी। सो जानइ जनु गरदनि मारी॥
कोउ कह रहन कहिअ नहि काहू। को न चहइ जग जीवनलाहू॥
नगर लोग सब सजि सजि जाना। चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना॥

(श्रीरामचरितमानस अयोध्या०)

इस प्रकार सब प्रजा श्रीरामसे मिलनेको व्याकुल होकर चित्रकूट जाती है और वहाँ प्रभुके दर्शन करती है।

जब रघुनाथजीके वनवासकी अवधि समाप्त हो गयी और वे अवध लौटकर आते है, उस कालमे प्रजाकी उत्सुकता देखिये—

रहा एक दिन अवधि कर, अति आरत पुरलोग।
जहँ तहँ सोचहिं नारिनर कृसतनु रामवियोग॥

समाचार पुरवासिन्ह पाये। नर अरु नारि हरषि उठि धाये॥
जो जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं। बाल वृद्ध कोउ संग न लावहिं॥
एक एक सन बूझहिं धाई। तुम्ह देखे दयालु रघुराई॥

(श्रीरामचरितमानस उत्तर०)

श्रीराम इस प्रकार लोगोके हृदयके आकर्षणके हेतु अवधनगरीमे पधारते है। श्रीरामका वनसे लौटकर अयोध्यामे आना राज्यके लिये नही था, वह था प्यारे भाई भरतके लिये और अवधवासी प्रजाके प्रेमके लिये। और फिर उनकी तीव्र प्रीतिके कारण ही आप राजसिंहासनपर बैठे थे।

दयालु श्रीरामका स्वभाव था कि वे दूसरेके दुःखको सहन नहीं कर सकते थे और इसी स्वभाववश भाई भरत और प्रजाके दुःखको मिटानेके लिये आपने राज्यशासन स्वीकार किया था।

अब श्रीरामके प्रजापालन-कालकी अवस्थाका कुछ वर्णन करते है। महामुनि वाल्मीकिजी कहते है—

श्रीरामके राज्य-शासनकालमे स्त्रियोको वैधव्य-दुःख नही था। सर्पभय और व्याधियोका भय नही था। संसार डाकुओसे शून्य हो गया था। कोई अनर्थ नही करता था। बड़ोको अपनेसे छोटोका प्रेतकार्य नही करना पड़ता था अर्थात् बाल या युवा-मृत्यु कभी नही होती थी, सब प्राणी प्रसन्न और धर्मपरायण रहते थे।

रामकी वृत्तिको देखकर कोई किसीकी हिंसा नही करता था, प्रजा रोग तथा शोकरहित थी, दीर्घायु भोगती और अनेक सन्ततियुक्त होती थी। सब वृक्ष पुष्प तथा फल-फूल प्रदान करते। प्रजाको आवश्यकतानुसार वर्षाद्वारा जलकी प्राप्ति होती। सुखदायक वायु वहती, मनुष्य अपने-अपने कर्मोंमे सन्तुष्ट रह उसीमे प्रवृत्त रहते। और प्रजा सत्यपरायण रहती। सारांश यह कि प्रजा सर्वसुलक्षण-सम्पन्न थी। गोस्वामीजी महाराज रामराज्यका वर्णन करते है—

राम राज बैठे त्रयलोका। हरषित भए गए सव सोका॥
वैर न कर काहू सन कोई। रामप्रताप विषमता खोई॥

वरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेदपथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख, नहिं भय सोक न रोग॥

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहि काहुहि व्यापा॥
सब नर करहिं परसपर प्रीती। चलहिं स्वधरम निरत श्रुतिरीती॥
चारिहु चरन धरम जगमाहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
रामभगतिरत नर अरु नारी। सकल परम गतिके अधिकारी॥
अलप मृत्यु नहि कवनिउँ पीरा। सब सुंदर सब निरुज सरीरा॥
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुध न लच्छनहीना॥
सब निरदंभ धरमरत धुनी। नर अरु नारि चतुर सुभगुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहि कपट सयानी॥

(श्रीरामचरितमानस उत्तर०)

प्रजावत्सल श्रीरामकी अवध और अवधवासियोंपर कितनी कृपा थी, इसका भगवान्‌की अपनी उक्तिसे ही पता लग जायगा। श्रीराम अयोध्या पहुँचनेपर पुष्पक-विमानमे बैठे हुए अपने मित्र विभीषण और सुग्रीवादिसे कहते है—

सुनु कपीस अंगद लंकेसा । पावन पुरी रुचिर यह देसा ॥
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना । वेद-पुरान-विदित जग जाना ॥
अवधसरिस प्रिय मोहि न सोऊ । यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ ॥
जनमभूमि मम पुरी सुहावनि । उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥
अति प्रिय मोहि इहाँके बासी । मम धामदा पुरी सुखरासी ॥

(श्रीरामचरितमानस उत्तर०)

दीनवत्सल श्रीराम

दीनको दयालु दानि, दूसरो न कोऊ ।
जाहि दीनता कहौं, हौं देखौं दीन सोऊ ॥

(विनयपत्रिका ७८)

जगत्‌में दीन-दुखी और अनाथोंके सच्चे हितैषी और मित्र अधिक नहीं मिलते । साधारणतः लोग धनवान्, सम्पन्न, सबल और सुखी लोगोंकी ओर ही दौडते हैं। ऐसे सत्पुरुष कोई-कोई ही मिलते हैं जो दीन और आर्तके दुःखोंसे दुखी होते हों । हमारे चरित्रनायक श्रीरामका सम्पूर्ण हृदय केवल दीन, दुखी, अनाथोंके लिये ही था । इसीलिये दयालु राम आदर्श दीनवत्सल माने जाते हैं और उनका चरित्र सत्पुरुषोंके लिये मार्गप्रदर्शक समझा जाता है । बाल्यावस्थासे ही श्रीरामका हृदय स्वभावतः दयालु और पर-दुःखकातर रहा । शास्त्रोंमे श्रीरामके हृदयको कठोर-से-कठोर और कोमलसे भी कोमल बतलाया है—

कुलिसहुँ चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहिं चाहि ।
चित खगेस रघुनाथ अस समुझि परइ कहु काहि ॥

(श्रीरामचरितमानस उत्तर०)

जो धन-जन-बलके मदसे गर्वित हैं, उनके लिये उनका

हृदय 'वज्रादपि कठोर' है; पर दीन-अनाथ-आर्तोंके लिये तो वह नवनीतसे भी अधिक कोमल है। बाल्यावस्थामें भी श्रीरामका यही स्वभाव था, वे किसी भी बालकको न तो कभी अप्रसन्न देख सकते थे और न किसीको रोने देते थे। जिस किसी प्रकारसे सबको प्रसन्न रखते और हँसाया करते। खेलमें स्वयं स्वेच्छासे हारकर दूसरे बालकोको जिता देते और उन्हे वस्त्र-भूषण तथा अपना स्वादिष्ट भोजन-पदार्थ देकर प्रसन्न रखते। अवधके भाग्यवान् बालकोंकी भी ऐसी ही दशा थी, उनका चित्त भी जनमनमोहन श्रीरामके बिना क्षणभर नही लगता। पूज्यपाद गोस्वामीजी गाते है—

सुनि सीतापति-सील-सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ॥
सिसुपनतें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम बिधु बदन रिसोहैं सुपनेहुँ लख्यो न काउ॥
खेलत संग अनुज बालक नित, जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत, देत दिवावत दाउ॥

(विनयपत्रिका १००)

'जानकीवल्लभ श्रीरामका शील-स्वभाव सुनकर जिस पुरुषका मन प्रसन्न नही होता, शरीर पुलकित नही होता और नेत्रोमें प्रेमाश्रु नही आते, उसका इधर-उधर धूल फॉकते भटकना ही अच्छा है। बचपनसे ही पिता, माता, भाई, गुरु, दास, मन्त्री और सखा, कभी किसीने श्रीरामके मुखचन्द्रको स्वप्नमे भी कुपित होते नहीं देखा। वे सदा ही प्रसन्नमुख रहते थे। भाई और दूसरे बालक जो उनके साथ खेलते, उनकी हार और अन्याय श्रीराम सदा

देखते रहते थे । परन्तु अपनी जीतपर भी (उनको प्रसन्न करनेके लिये) हार जाते थे । उन लोगोंको पुचकार-पुचकारकर प्रेमसे दाँव देते और दूसरोंसे भी दिलाते थे ।'

दशरथनन्दन श्रीरामकी दीनवत्सलता सार्वभौम है । वह न तो देश और कालसे परिच्छिन्न है और न व्यवहार और व्यक्तिसे ही। उनका सब काल तथा सब देशमें और सभीके साथ समान वात्सल्य-भाव है । उनके शत्रु-मित्र, उच्च-नीच या धनी-दरिद्र-भावसे कुछ भी व्यवहारभेद नहीं हैं। आवश्यकता है केवल दीन और आर्तभावकी ।

कोसलकुमार रघुनाथजीकी दीनवत्सलताके कुछ उदाहरण पाठकोंके सम्मुख संक्षेपमें उपस्थित किये जाते हैं । देखिये—

दीनभावापन्न राजा जनकको श्रीरामने कैसा सम्हाला । जनकने अपनी अयोनिजा कन्या श्रीसीताजीका स्वयंवर रचा और निश्चय किया कि सीताको वही ग्रहण कर सकेगा जो बल-वीर्य और पराक्रमसे सम्पन्न होगा, उसपर निर्बल और अशक्तका अधिकार नहीं होगा । इस बल-वीर्य और पराक्रमकी परीक्षा होगी विशाल शम्भुचापकी प्रत्यञ्चा चढ़ानेसे । महाराज जनकके इस प्रकारके प्रणकी घोषणा सुनकर जनकपुरमें अनेक राजा आये, परन्तु कोई भी इस परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं हो सके; यहाँतक कि—

न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽपि वा ।

(वा० रामा० १ । ६६ । १९)

उस धनुषको कोई न तो उठा सका और न हिला ही सका ।

तमकि तमकि तकि सिवधनु धरहीं। उठइ न कोटि भाँति बल करहीं ॥
जिन्हके कछु बिचार मनमाहीं । चाप समीप महीप न जाहीं ॥

तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप, उठइ न, चलहिं लजाइ।
मनहुँ पाइ भट-बाहुबल अधिक अधिक गरुआइ॥
डिगइ न संभुसरासन कैसे। कामीबचन सतीमन जैसे॥
सब नृप भए जोग उपहासी। जैसे बिनु बिराग संन्यासी॥

(श्रीरामचरितमानस बाल०)

इस अवस्थामे मिथिलापतिकी कैसी दीन और भ्रान्त दशा हो गयी थी, तनिक उसका चित्र अवलोकन कीजिये—

नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने। बोले बचन रोष जनु साने॥
अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीरबिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिआहू॥
सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुअँरि कुआँरि रहइ का करऊँ॥
जौं जनतेउँ बिनु भट महि भाई। तौ पन करि करतेउँ न हँसाई॥

(श्रीरामचरितमानस बाल०)

जनक महाराजकी ऐसी दीनताको भला दीनवत्सल कब सहन करनेवाले थे?

सोचमगन काढ़यो सही साहिब मिथिलाको।
तौ सिवधनु मृनालकी नाईं। तोरहिं राम गनेस गोसाईं॥

(श्रीराम० बाल०)

इस प्रकार श्रीरामने दीन हुए जनक महाराजके शोकको दूरकर शम्भुचाप तोड़ सीताको वरण कर लिया।

दूसरी झाँकी देखिये! निषाद दरिद्र है, नीचजाति है; परन्तु भगवान् उसे अभिमानरहित और दीनभावयुक्त देखकर अपना सखा बना लेते हैं एवं उसका बड़ा ही मान तथा आदर करते है।

ऐसे राम दीन-हितकारी ।
हिंसारत निषाद तामसवपु पसु समान बनचारी ।
भेंट्यो हृदयँ लगाइ प्रेमबस नहि कुल जाति बिचारी ॥

(विनयपत्रिका १६६)

श्रीरघुबीरकी यह बानि ।
नीचहूसों करत नेह, सुप्रीति मन अनुमानि ॥
परम अधम निपाद पाँवर, कौन ताकी कानि ।
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों, प्रेमको पहिचानि ॥

(श्रीविनयपत्रिका २१५)

निपादको अपना सखा बनाकर श्रीरामने इतना अधिक आदर दिया कि परम ज्ञानी श्रीवशिष्ठ-सदृश मुनि भी उसको गले लगाकर मिलने लगे—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू । कीन्ह दूरितें दंडप्रनामू ॥
रामसखा रिपि बरबस भेंटे । जनु महि लुटत सनेह समेटे ॥

(श्रीराम० अयोध्या०)

मनुष्योंको अपनानेकी तो बात ही कौन-सी है । श्रीरामने पामर पशु-पक्षियोंको भी अपना लिया और ऐसा अपना लिया कि जिसकी कहीं तुलना नहीं है । रामके लिये प्राणोंकी बलि चढ़ानेवाले भक्तराज गीधके दर्शन कीजिये ! जगज्जननी सीताको रावण हरकर ले जा रहा है । गीधराज जटायु जब यह सुनते हैं तो चटपट दौडकर सीताको रावणके हाथसे छुड़ानेके लिये मार्गमें ही उसके रथको रोक लेते हैं । रावणके साथ जटायुका युद्ध होता है । 'रामकाज' लड़ते हुए जटायुके दोनों पंख रावण काट डालता है और इससे घायल होकर लाचार जटायु जमीनपर गिर पड़ते हैं । जटायुकी असमर्थताके अवसरमें रावण सीताजीको लेकर चला जाता है । इधर रघुकुलभूषण श्रीराम लक्ष्मणसहित सीताकी

खोज करते-करते जटायुके पास पहुँचते है। यहाँ जटायुके साथ श्रीरामके व्यवहारको देखिये—

दीन मलीन दयालु बिहंग पर्‌यो महि सोचत खिन्न दुखारी।
राघव दीनदयालु कृपालुको देख दुखी करुना भइ भारी॥
गीधको गोदमें राखि कृपानिधि नैनसरोजनमें भरि वारी।
बारहिं बार सुधारहिं पंख जटायुकी धूरि जटानसों झारी॥

दयालु राम गीधकी दीन दशा देख दुःखित हो गये और उसको अपनी गोदमे लेकर कुछ दिन जीवन धारण करनेके लिये प्रार्थना करने लगे।

परन्तु उसने जीना स्वीकार नहीं किया और करता भी कैसे? वह कहने लगा—

जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचनगोचर आगे। राखउँ देह नाथ! केहि लागे॥

मरनेका इससे अधिक अच्छा अवसर फिर कब मिलनेको था? अन्तमे जटायु श्रीरामकी मुनिदुर्लभ सुकोमल गोदमे ही सदाके लिये शान्त हो जाते हैं।

श्रीराम कहते है—

परहित बस जिनके मनमाहीं। तिन्ह कहँ जग दुरलभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ कहा तुम पूरनकामा॥

इसके बाद जटायुकी क्रिया भगवान् स्वयं अपने हाथसे करते है—

अविरल भगति माँगि वर गीध गयउ हरिधाम।
तेहिकी क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥

(श्रीरामचरितमानस अरण्य०)

पितु ज्यों गीध-क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो।
ऐसो प्रभु बिसारि तुलसी, सठ, तू चाहत सुख पायो॥

इससे भी आगे बढ़िये—हमारे दीनवत्सल श्रीरामके दरबारमें चेतन मनुष्य और पशुपक्षी ही नहीं, जड़ पाषाणको भी वही स्थान मिलता है। देखिये—

गौतमपत्नी अहल्या पतिके शापसे पाषाण होकर गौतम-आश्रममे स्थित है। उसमे न सेवाकी योग्यता है और न श्रीरामको बुलानेका सामर्थ्य ही है। है केवल दीनता और जडता। दयालु रामने इस जड़की उपेक्षा नही की। मिथिलापुरी जाते समय मार्गमे जनशून्य गौतम-आश्रममे उस पाषाणको देखकर प्रभु श्रीराम-जी विश्वामित्र मुनिसे पूछने लगे—

वेद पढ़ै न कहूँ द्विजवृंद, बनी यह कैसी बढ़ावत भै-सी।
सूखे रसाल-तमालनके तरु, जानि परै कछु बाति अनैसी॥
कूजैं नही खग, गूँजैं न भौंर, लखी ललिते नहिं आजु लौं ऐसी।
कीजै कृपा, कहिए मुनिनाथ जू, मारग माँझ सिला यह कैसी?

विश्वामित्र मुनि उत्तर देते है—

गौतमनारी शापबस उपलदेह धरि धीर।
चरनकमल-रज चाहती, कृपा करहु रघुबीर॥

अनाथनाथ दयामय दीनबन्धु दयाके वश हो शिलाको चरणसे छूते है और उनके चरणका स्पर्श पाते ही अहल्या उसी क्षण अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाती है—

परसत पद पावन सोकनसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जनसुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही॥

(श्रीराम० बाल०)

श्रीरामकी दयालुताका कहाँतक वर्णन किया जाय? दण्डक-वनमे विचरते हुए श्रीराम एक जगह हड्डियोका ढेर देखकर मुनियोसे पूछते है कि 'यह क्या है?'—

अस्थिसमूह देखि रघुराया। पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया॥

मुनियोने उत्तर दिया—

निसिचरनिकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुनाथ नयन जल छाये॥

मुनियोंके दुःखको देखकर स्वामी रघुनाथजीके नेत्रोमे जल आ गया, भगवान्ने उनके दुःख दूर करनेकी उसी क्षण प्रतिज्ञा की—

निसिचरहीन करौं महि, भुज उठाय पन कीन्ह।
सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

(*श्रीराम० अरण्य०*)

इस प्रकार श्रीरामके प्रतिज्ञा करनेके बाद एक समय श्रीमती सीता प्रभुको राक्षसोके वधरूप हिंसात्मक कर्मसे विरत करनेके उद्देश्यसे प्रभुसे कहने लगी—'स्वामिन्! इस संसारमे कामजन्य व्यसन तीन प्रकारके होते है—एक मिथ्या भाषण, दूसरा पर-स्त्री-सेवन और तीसरा शत्रुताके बिना हिंसा करना। हे राघव! आपने न तो कभी आजतक मिथ्या शब्द उच्चारण किया है और न कभी भविष्यमे आप कर ही सकते है। अधर्मदायक परस्त्रीगमनरूप व्यसन भी आपमे नही है। आपको स्वप्नमे भी परस्त्रीकी अभिलाषा नही होती। आप पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले, धार्मिक और सत्यपरायण है। आपमे धर्म और सत्य पूर्णरूपसे विराजमान है। आप इन्द्रियविजयी है, यह बात सभी जानते है; परन्तु

आप शत्रुता न होनेपर भी राक्षसोंके वधरूप हिंसाकर्मको क्यों करना चाहते है ?' इस प्रकार भगवान्‌के प्रति श्रीसीताजीने प्रेम और नम्रतासे अनेक बाते कही, तब रघुकुलमणि श्रीरामने उत्तर दिया—'हे धर्मज्ञे जनकात्मजे ! तुमने सभी हितकर और प्रिय बातें कही हैं। तुमने स्वयं यह बात भी स्वीकार की है कि क्षत्रिय-को धनुष इसलिये धारण करना चाहिये जिससे किसी भी आर्तका शब्द कभी सुनायी न दे। हे सीते ! इस दण्डकारण्यवासी तीक्ष्ण व्रतोंके पालन करनेवाले मुनिगण मुझे अपना रक्षक मानकर मेरी शरण हो गये है। वे क्रूर कर्म करनेवाले राक्षसोसे उत्पीड़ित हो रहे है, अत्यन्त दुखी है। ये सब बातें मुनियोने मुझसे कही है। मैने उनसे पूछा, 'क्या करना चाहिये'—तब मुनियोने कहा कि 'ये राक्षस सदा ही हमलोगोके यज्ञ, व्रत, तपादि अनुष्ठानमे विघ्न करते है और बिना ही कारण हमलोगोको सताते है। यद्यपि हमलोग तपके बलसे इन राक्षसोको नष्ट कर सकते हैं, किन्तु ऐसा करनेसे हम अपने तप और साधनसे गिरते हैं। अतएव हे राम ! आप हमारी रक्षा कीजिये।' हे सीते ! इस प्रकार उनके दीन वचनोको सुनकर मैने प्रतिज्ञा कर ली है और अब मै प्राण रहते कभी प्रतिज्ञाके प्रतिकूल नहीं चल सकता। मै चिरकालसे सत्यको अपना इष्ट समझता हूँ।' इसीलिये श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

अस प्रभु दीनदयाल हरि कारन रहित कृपाल।
तुलसिदास सठ ताहि भजु छाड़ु कपटजंजाल॥

(रामा० बाल०)

प्रभुकी दयालुताका दूसरा उदाहरण देखिये ! सुग्रीव अपने

ज्येष्ठ भ्राता बालिके द्वारा निगृहीत हो, घरसे निकल पड़ता है और बालिके भयसे कही भी आश्रय न पाकर ऋष्यमूकपर्वतपर आश्रय लेता है। इस पहाड़पर बालि शापके भयसे नही जा सकता था। बालिने सुग्रीवकी सम्पत्ति तथा उसकी स्त्रीको हर लिया था। ऐसी दीन दशामे पड़ा हुआ सुग्रीव जब भगवान् श्रीरामका आश्रय ग्रहण करता है, तब वे उसके दुःखोंको सुनकर प्रतिज्ञा करते है—

सुनु सुग्रीव मैं मारिहों बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म-रुद्र-सरनागत गए न उबरहिं प्रान॥

सुग्रीवके दुःखसे श्रीराम यहाँतक व्यथित होते हैं कि उस दुर्दशाग्रस्त दीनको अपना मित्र मानकर उसके सारे दुःखोको अपने ऊपर ले लेते है। मित्रधर्मका निरूपण करते हुए आप कहते है—

जे न मित्रदुख होंहि दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी॥
निजदुख गिरिसम रज करि जाना। मित्रके दुख-रज मेरुसमाना॥
देत-लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपतिकाल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि करब काज मैं तोरे॥

(श्रीराम० किष्किन्धा०)

कितनी दयालुता है! श्रीराम बलगर्वित बालिका वध करते है, उसके अपराधका यथोचित दण्ड देते है; परन्तु जब बालिके बल और गर्वका नाश हो जाता है, तब तुरन्त ही उसी दीन कातर बालिके प्रति ऐसी दयालुता दिखाते हैं जिसकी कोई सीमा नही—

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि-सीस परसेउ निज पानी॥

अचल करउँ तनु राखहु प्राना। (रामा० किष्किन्धा०)

मित्रके प्रति जैसी दयालुता है, वैसी ही शत्रुके प्रति भी है। श्रीरामकी दृष्टिमें कोई भी शत्रु नहीं, वे सभीके निज जन हैं। हाँ, अभिमानी, गर्वी, दुराचारीके लिये वे साक्षात् कालसदृश हैं; परन्तु दीनके लिये तो वे परम मधुर, रमणीय, मनमोहन और अति घनिष्ट आत्मीय है।

जगत्मे सच्चा दीनवत्सल एक पतितपावन श्रीरामके सिवा और कौन हो सकता है ? प्राकृत मनुष्य कैसा भी क्यों न हो—राजा हो या अति बलवान्, साधु हो या विद्वान्, क्षमाशील हो या दयावान्, कोई कितना भी ऊँचा क्यो न हो, फिर भी उसकी शक्ति और सामर्थ्य परिमित ही है। कहा है—

एकै दानिसिरोमनि साँचो।
जेइ जाच्यो सोइ जाचकतावस फिरि बहु नाच न नाच्यो॥
(विनय० १६३)

इसके सिवा यह बात भी है कि प्राकृत जीवकी दया भी तभी प्राप्त होती है, जब उसपर जगत्पतिकी दया होती है। कहा है—

मुनि सुर नर नाग असुर साहेब तौ घनेरे।
पै तौलौं जौलौं रावरे न नेकु नयन फेरे॥ (विनय०)

इसके अतिरिक्त जगत्मे प्राकृत जनकी उदारता किसी-न-किसी स्वार्थको लेकर ही होती है। गोस्वामीजी कहते हैं—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर, राम सरिस कोउ नाहीं॥
(विनय० १६२)

ऐसे राम दीन हितकारी।
अति कोमल करुनानिधान, बिनु कारन पर-उपकारी॥
(विनय० १६६)

एक बात और है, यदि दूसरे किसीसे भीख मिल भी गयी तो उससे सदाके लिये भिखमंगापन नहीं मिटता। उससे एक काल या कुछ कालके लिये क्षणिक सुख होता है, दुःखका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। पर श्रीरामका दान तो कुछ विलक्षण ही है।

और काहि माँगिए, को माँगिबो निवारै ?
अभिमतदातार कौन दुख-दरिद्र दारै ? (विनय०)

इन सबके अतिरिक्त एक बात और भी है, स्वामीको छोड़कर अन्य किसीके भी सामने हाथ फैलाना बड़े कलंककी बात है। परन्तु अपने स्वामीसे माँगनेमें आपत्ति नहीं। यहाँ तो अपना वैसा ही अधिकार है जैसा पिताकी सम्पत्तिपर पुत्रका और स्वामीकी सम्पत्तिपर स्त्रीका अधिकार होता है। गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

'तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।'
'जे जे तैं निहाल किए, फूले फिरत पाये।' (विनय०)

यह बात अवश्य है कि प्रभुकी कृपासे प्रभुकी ही शक्तिको प्राप्तकर प्रभुके दास चाहे जैसे दयालु बन जाते हैं। उन दासोंमें उनका अपना कोई प्रभाव और बल नहीं रहता। जो कुछ है, सब प्रभुका है। प्रभु जो चाहें वही कार्य उनसे करा सकते हैं और उनका चाहे जितना गौरव भी बढ़ा सकते हैं। यह सब प्रभुकी इच्छा है। अतएव छल-कपट त्यागकर अद्वितीय दीनवत्सल

जानकीवल्लभ श्रीरामके चरणोमे दीन होकर उपस्थित होनेसे सदाके लिये दीनताका नाश हो सकता है—

कोसलचित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥

भक्तवत्सल श्रीराम

नान्या स्पृहा रघुपते हृदये मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

(श्रीरामच० सुन्दर०)

अखिलभुवनपति भगवान् जब अपने भक्तोंके हृदयमें मिलनेकी उत्कट उत्कण्ठा देखते हैं, अथवा जब अपने भक्तोंको विपत्तिग्रस्त समझते हैं, तब भक्तोकी प्रीति और सुखके लिये वे स्वयं इस धराधाममें पधारते हैं—

फिरत धाम वैकुंठ तजि, भक्तजननके काज।
जोइ जोइ जन मन भावई, धारत सोइ तन साज॥

यद्यपि भगवान्ने श्रीगीतामें अपने अवतरणका कारण यह बतलाया है कि—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(४। ७-८)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मै अपने रूपको प्रकट करता हूँ। साधु-

पुरुषोका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोका नाश करनेके लिये तथा धर्मकी स्थापनाके लिये मै युग-युगमे प्रकट होता हूँ ।’

तथापि अधिक विचारनेसे भगवान्‌के अवतरणका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि वे अपने प्रिय भक्तोसे साक्षात् मिलनेके लिये और अपनी रमणीय लीलामे उन्हे सम्मिलित करके उनकी मनोकामना पूर्ण करनेके लिये ही प्रकट होते है । यदि कहे कि फिर अन्यान्य कारण क्यो बतलाये गये हैं ?—तो इसके उत्तरमे यह निवेदन है कि अन्यान्य कारण भी होते हैं, पर वे सब गौण होते है । मुख्य कारण उसे समझना चाहिये जिसके लिये स्वयं अवतार धारण करनेके अतिरिक्त दूसरे उपायोंसे काम ही नहीं चल सकता और गौण कारण वह है जिसमे इच्छा हो तो भले ही स्वयं पधारे अन्यथा अन्यान्य उपायोसे भी काम चल सकता है। यदि हम ‘अधर्मको दूर करके धर्मकी स्थापना’ को ही मुख्य कारण माने तो यह असङ्गत है, क्योकि धर्मस्थापनके अन्य उपाय भी है । भगवान् अपने भक्त और साधुओके द्वारा भी यह कार्य करवा सकते हैं । दुष्टोके विनाशको मुख्य कारण माने तो यह भी ठीक नही, क्योकि अपने भक्तोको शक्ति देकर सहज ही भगवान् यह कार्य भी करा सकते है । इस स्थलमे इस शङ्काको स्थान नही हैं कि भगवद्भक्त भगवान्‌की शक्ति पाकर उपर्युक्त कार्य नही कर सकेंगे, भगवत्-शक्तिसे तुच्छ-से-तुच्छ जीव भी महान्-से-महान् बनकर सब कुछ कर सकता है और अत्यन्त समर्थ भी तुच्छ बन जा सकता है—

जो चेतन कहँ जड़ करै, जड़हि करै चैतन्य।
अस समरथ रघुनाथ कहँ भजहिं जीव ते धन्य॥
(रामा० उत्तर०)

ताकहँ जग कछु अगम नहि, जापर हरि अनुकूल।
तेहि प्रताप बड़वानलहि जारि सकै खल तूल॥
मसकहि करहिं बिरंचि सम, अजहि मसक तें हीन।

भगवत्कृपासे सब कुछ सम्भव हैं, इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नही। यह सब होते हुए जब भक्तके हृदयमें अपने प्रभुसे मिलनेकी चाह जागृत होती है और जब उस चाहका स्वरूप ऐसा उत्कट बन जाता है कि—

देह-गेहकी सुधि नहीं, टूट गयी जग-प्रीत।
'नारायण' गावत फिरै प्रेम-भरे रस-गीत॥
प्रेमसहित गदगद गिरा, कढ़त न मुखसों बात।
'नारायण' महबूब बिन और न कछू सुहात॥
मनमें लागी चटपटी, कब निरखूँ श्रीराम।
'नारायण' भूल्यो सभी खान पान विश्राम॥

इस प्रकारकी अवस्थामे जब वह मिलनाकांक्षी भक्त परम व्याकुल होकर हृदयेशको पुकारता है, तब उसके पास किसी प्रतिनिधिको भेजनेसे काम नहीं चल सकता। इस अवस्थामे भगवान्‌को स्वयं भक्तोके इच्छानुरूप स्वरूपमे आना पड़ता है; क्योकि अनन्य भक्तोकी यह भी एक विचित्रता है कि वे भगवान्‌के जिस एक रूपके उपासक होते है उसके सिवा उसी भगवान्‌के अन्य रूपके दर्शनसे उन्हे तृप्ति नहीं होती, यद्यपि वे उनमे कोई भेद नहीं मानते। जब श्रीराम दण्डकारण्यमे पधारते है और सुतीक्ष्ण

मुनिको पता लगता है कि श्रीराम यहाँ आये है, तब वे उनके दर्शनार्थ व्याकुल हो उठते है । सुतीक्ष्णजी अवधेशकुमारके उपासक थे और उनसे मिलनेके लिये श्रीरामको उनके आश्रममे जाना भी था, परन्तु श्रीरामके आगमनकी खबर पाते ही मुनिकी क्या दशा होती है—जरा ध्यानसे देखिये !

प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा । करत मनोरथ आतुर धावा ॥
हे विधि दीनबंधु रघुराया । मोसे सठपर करिहहिं दाया ॥
सहित अनुज मोहि राम गोसाईं । मिलिहहिं निज सेवककी नाईं ॥
एक बानि करुनानिधानकी । सो प्रिय जाके गति न आनकी ॥

(श्रीराम० अरण्य०)

सुतीक्ष्ण मुनि भगवान्‌के प्रेममे इतने विह्वल हो गये कि उनको अपने तन-मनकी और मार्गकी भी सुध-बुध नही रही—

निरभर प्रेम मगन मुनि ग्यानी । कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहि सूझा । को मैं चलेउ कहाँ नहि बूझा ॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई । कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई ॥

सुतीक्ष्ण मुनिकी यह दशा थी । इतनेमें ही रघुकुलभूषण श्रीरामजी वहाँ पहुँच गये और अपने प्यारे भक्तकी प्रेमदशा पेडकी ओटसे देखने लगे—

अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई । प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई ॥

भक्तवत्सल श्रीराम अब अपने भक्तसे दूर नही रह सके—

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा । प्रगटे हृदयँ हरन भवभीरा ॥

प्रभुको अपने भक्तके हृदयमे प्रकट होकर भी सन्तोष नही हुआ, अतः भगवान् अपने भक्तको ध्यानसे जगानेके लिये आगे बढ़े—

मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस-फल जैसा॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए। देखि दसा निज जन मन भाए॥

कमललोचन श्रीराम सुतीक्ष्णके पास आकर मुनिको ध्यानसे जगाने लगे।

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यानजनित सुख पावा॥
भूपरूप तब राम दुरावा। हृदयँ चतुर्भुज रूप दिखावा॥

मुनिके हृदयसे अवधेशकुमार श्रीराम-रूपको हटाकर आप चतुर्भुज श्रीविष्णुरूपमे प्रकट हो गये, तब—

मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल दीन फनि मनि बिनु जैसे॥

यहाँ श्रीरामोपासक सुतीक्ष्णजी विष्णुरूपसे सन्तुष्ट नहीं है; यद्यपि श्रीराम और विष्णुमें भेद नहीं है तथापि भक्तको तो अपने ईप्सित रूपकी ही चाह रहती है—

सुतीक्ष्ण मुनिका ध्यान टूट जाता है और वे सामने प्रत्यक्ष श्रीसीतारामको देखकर प्रणाम करने लगते हैं—

आगे देखि रामतनु स्यामा। सीताअनुज सहित सुखधामा॥
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेममगन मुनिवर बड़भागी॥

(श्रीराम० अरण्य०)

यहाँ सुतीक्ष्णके लिये भगवान्‌को श्रीरामरूपसे स्वयं आना ही पडता है; प्रतिनिधिकी बात तो दूर रही, अपने ही अन्य रूप-से भी काम नहीं चलता।

यदि यह कहा जाय कि भगवान् भक्तोको ज्ञान प्रदानकर ऐसी चाहसे मुक्त क्यो नही कर देते अथवा मुक्ति प्रदान करके उन्हे सन्तोप क्यो नहीं करा देते ?

इसका उत्तर यह है कि ऐसे रूप, धाम और लीलाके उपासक भक्त आरम्भसे मोक्षकी चाह न रखकर ही साधन करते हैं। उन्हे मुक्तिकी परवा ही नहीं होती, वे तो केवल अपने उपास्यको ही चाहते हैं। ऐसे भक्तोके भावको स्वयं भगवान् इस प्रकार बतलाते है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४)

मुझमे आत्मसमर्पण करनेवाला भक्त एक मेरे सिवा ब्रह्माके पदको, इन्द्रके पदको, सार्वभौम राज्यको, पातालके राज्यको, योगसिद्धिको अथवा मोक्षको भी नही चाहता। अनन्य भक्त वे ही होते है जो मुक्तिमे भी स्पृहारहित है—'ये मुक्तावपि निस्पृहाः' और जिनको भगवान्के सिवा अन्य कोई भी अभिलाषा नहीं है—'अन्याभिलाषिताशून्यम् ।' भक्त तो चाहते है केवल एक अपने प्यारे प्रभुको, जो सबका आधार और सब कुछ देनेवाला है। पर वे भक्त उससे किसी अन्य दानको न चाहकर स्वयं दाताको ही चाहते है। अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ५३)

आधे निमेषके लिये भगवच्चिन्तन छोड़नेसे यदि त्रिलोकी-

का समस्त ऐश्वर्य भी प्राप्त होता हो तो भी भगवच्चरणकमलोंका प्रेमी भगवच्चिन्तनका त्याग नहीं करता ।

यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।

इसी भक्तिका आश्रय लेकर भक्त सारे ब्रह्माण्डके शिरोमणि भगवान्‌को अपने वशमे कर लेते है ।

बतलाइये, इस भावके भक्तोको भगवान् मुक्ति या ज्ञान देकर उनसे कैसे छूट सकते है ? ऐसे भावुकोंकी इच्छापूर्तिके लिये ही तो उन्हे स्वयं इस मर्त्यलोकमें आना पडता है । यहाँ प्रतिनिधि-द्वारा काम नहा चलता । यदि कोई कहे कि ऐसे भक्तोको तो कुछ भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये ? इतनी इच्छा भी उनमे क्यो होती है ? हाँ, ठीक है, उन्हे और कुछ भी इच्छा नहीं होती; परन्तु वे अपनी प्रभुसेवाकी चाह नही छोड़ सकते । इसीसे वे—

मुकुति निरादरि भगति लुभाने । (रामा० उत्तर०)

अतएव भगवान्‌के अपने नित्य शाश्वत अमृतधामसे आकर यहाँ अवतीर्ण होनेका मुख्य कारण भक्तोका आनन्दवर्द्धन, उनसे प्रत्यक्ष मिलन तथा उनका सेवाग्रहण ही होता है । यह अवश्य है कि अवतार ग्रहण करनेपर भगवान् लोकहितकर अनेक कार्य करते है, बहुत-से जीवोका उद्धार कर देते है और शेपके लिये तथा भविष्यत्मे होनेवालोके लिये अपने धामका मार्ग प्रशस्त कर जाते हैं।

यदि कोई यह कहे कि भगवान्‌के अवतार न लेकर जब-जब भक्तोकी इच्छा हो तब-तब उन्हे दर्शन देकर अन्तर्धान हो जानेसे भी तो काम चल सकता है । इसका उत्तर यह है कि कहीं-कहीं

ऐसा भी होता है, भक्त ध्रुवजीके लिये यही हुआ था। परन्तु बात यह है कि भगवान्‌के भक्तगण अनोखे और विचित्र भाववाले होते हैं। मनु-शतरूपाने उनको पुत्ररूपसे ही प्राप्त करना चाहा। भगवान्‌के साथ मनुजीका वार्त्तालाप सुनिये! मनुजी कहते हैं—

दानिसिरोमनि कृपानिधि, नाथ कहौं सतिभाउ।
चाहउँ तुम्हहिं समान सुत, प्रभुसन कवन दुराउ॥
देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥
आपु सरिस खोजउँ कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥

(श्रीराम० बाल०)

जब भगवान् कौशल्याजीके यहाँ चतुर्भुजरूपसे प्रकट हुए, तब भी माता कौशल्या भगवान्‌से प्रार्थना करती है—

माता पुनि बोली, सो मति डोली, तजहु, तात! यह रूपा।
कीजै सिसुलीला अति प्रियसीला, यह सुख परम अनूपा॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना, ह्वै बालक सुरभूपा।

(रामा० बाल०)

भक्त कागभुशुण्डिजीकी चाह देखिये—

जब जब राम मनुजतनु धरहीं। भगतहेतु लीला बहु करहीं॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ॥
जनममहोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई॥
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि सत कामा॥
निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सफल करउँ उरगारी॥
लघु बायस बपु धरि हरिसंगा। देखउँ बालचरित बहुरंगा॥
लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं, तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठन परइ अजिरमहँ, सोइ उठाइ पुनि खाउँ॥

(रामा० उत्तर०)

भक्तिमयी शबरीजीकी आशाका आनन्द लूटिये—

जब भगवान् श्रीशबरीके आश्रममें आते हैं तब शबरी कहती है, मेरे गुरु मतंग ऋषि कह गये थे कि—

रामो दाशरथिर्जातः परमात्मा सनातनः ।
आगमिष्यति सैकाग्रध्याननिष्ठा स्थिरा भव ।

(अध्यात्मरा० ३ । १० । १३-१४)

'सनातन परमात्मा दशरथके पुत्र राम यहाँ आवेंगे, तू एकाग्र चित्तसे ध्यानपरायण होकर यहाँ स्थिर रह ।'

शबरीजीको अनेक कालसे श्रीरामदर्शनकी लालसा लगी थी, वह प्रभु श्रीरामको खिलानेके लिये नित्य स्वादिष्ट फलोका संग्रह किया करती थी—आज वही स्वादभरे सरस संगृहीत फल श्रीरामके भेट करती है—

कंद मूल फल सरस अति दिए रामकहँ आनि ।
प्रेमसहित प्रभु खायऊ बारहिं बार बखानि ॥

भगवान्‌ने श्रीशबरीके दिये हुए फलोको निःसंकोच प्रेमसे खाया और फलोंकी बड़ाई करते-करते नही थके । अन्तमे शबरीने श्रीरामके सम्मुख अपने प्राण त्याग दिये, तब श्रीरामने अपने हाथसे माताकी भाँति शबरीका अन्त्येष्टिसंस्कार और उसकी ऊर्ध्वक्रिया की । श्रीरामकी भक्तवत्सलताका कहाँतक वर्णन किया जाय ?

इस प्रकार उनके भक्त अनेक प्रकारकी आशा लगाये रहते हैं—कोई सख्यरसके आस्वादनकी इच्छा करते हैं, तो कोई दास्य-रसकी; कोई माधुर्यरसकी, तो कोई वात्सल्यरसकी और कोई शान्तरसकी । ऐसे सभी भक्तोके मनोरथ पूर्ण करनेके लिये भक्त-

वत्सल भगवान् श्रीरघुनाथजीका अवतार है। प्रभुके साथ सम्बन्ध केवल भक्तिद्वारा ही होता है, चाहे वह किसी भी भाववाली हो। भगवान् श्रीशबरीके प्रति कहते हैं—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगतिकर नाता॥
जाति पाँति कुल धरम बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगतिहीन नर सोहइ कैसें। बिनु जल बारिद देखिअ जैसें॥

(रामा० आरण्य०)

भक्तिद्वारा मनुष्य भगवान् श्रीरामका आत्मीय बन जाता है। देखिये, वनवासी पशुजाति वानरोंने अपने भक्तिबलसे श्रीरामके हृदयपर कैसा अधिकार कर लिया। गुरु वशिष्ठके प्रति स्वयं श्रीराम अपने वानर भक्तोंके लिये कहते हैं—

ए सब सखा सुनिअ मुनि मेरे। भए समरसागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहु तें मोहि अधिक पिआरे॥

(रामा० उत्तर०)

पूज्यपाद गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

प्रभु तरुतर कपि डारपर, ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न रामसो साहेब सीलनिधान॥

जे ग्यान-मान-बिमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुरदुरलभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि, सब आस परिहरि, दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव, नाथ सो समरामहे॥

(रामा० उत्तर०)

शरणागतवत्सल श्रीराम

श्रीरामचन्द्रचरणौ मनसा स्मरामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ वचसा गृणामि।

श्रीरामचन्द्रचरणौ शिरसा नमामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये ॥

(श्रीबुधकौशिकस्य रामरक्षास्तोत्रात् २९)

शरणागति समस्त साधनोकी पराकाष्ठा है, सबका फल है और इस शरणागतिका फल है परम ध्येयकी प्राप्ति । वास्तवमे शरणागतिका फल अवर्णनीय है । फल कहनेसे तो शरणागति-भावकी लघुता होती है । अवधेशकुमार भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी शरणागतवत्सलता भुवनविख्यात है; जिस समय रावणसे निगृहीत होकर विभीषण श्रीरामके शरण आता है, उस समयका श्रीरामका भाव देखिये—

विभीषण अपने चार अनुचरोसहित श्रीरामके शिविरमे आकाशमार्गसे आता है और सुग्रीवादि वानरोको अपना परिचय देकर सर्वलोकशरण्य श्रीरामके आश्रयमे ले चलनेके लिये अनुरोध करता है । वह कहता है—

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने ।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम् ॥

(वा० रा० ६ । १७ । १७)

'सर्व लोकोको शरण देनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको मेरे आनेकी सूचना आप दे दे ।'

विभीषणके वचनोको सुन और उसको वही छोड़कर सुग्रीवादि वानर श्रीरघुनाथजीको उसके आगमनकी सूचना देते हैं । श्रीराम सब वानरोकी सम्मति चाहते है, इसपर सुग्रीव कहता है—'भगवन् ! शत्रुसेनासे अकस्मात् यह शत्रु विभीषण अपनी सेनामे आया है, मौका पाकर अपनी सेनाका नाश वैसे ही कर देगा

जैसे उल्लू कौवोंका नाश कर देता है। यह राक्षस शूरवीर और कपटी है, अन्तर्धान हो सकता है और इच्छानुरूप स्वरूप भी धारण कर सकता है। इसका विश्वास नहीं करना चाहिये। यह रावणके गुप्तचररूपसे हमारा भेद लेने आया है।

जानि न जाइ निसाचरमाया। कामरूप केहि कारन आया॥
भेद लेन हमार सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥

(रामा० सुन्दर०)

'इसको रावणका भेजा हुआ समझिये। इसका विश्वास कभी नहीं करना चाहिये। यह पहले विश्वस्तभाव दिखाकर पीछेसे मौका पाकर धोखा देगा। अतः इसे मन्त्रियोंसमेत मार ही डालना चाहिये।'

अङ्गद कहता है—'विभीषण शत्रुके यहाँसे आता है, उसपर सन्देह अवश्य करना चाहिये। अवसर पाकर वह प्रहार कर सकता है। हित-अहितका विवेचन करके बलसंग्रह करना चाहिये। जिसमें अधिक दोष हो, उसको त्यागना चाहिये और जिसमें अधिक गुण हो उसीका संग्रह करना चाहिये। यदि आपको विभीषणमें अधिक दोष प्रतीत हो तो त्याग दें और अधिक गुण प्रतीत हो तो ग्रहण करें।'

जाम्बवान् कहता है—'जब यह युद्धके समय आया है, तब अवश्य ही रावणका भेजा हुआ है।'

मैन्द वानर कहता है—'यह रावणका छोटा भाई है। मधुर वचनोंसे इससे सब समाचार पूछने चाहिये। फिर यह सद्बुद्धि है या असद्बुद्धि, इसका भी यथोचित विचार करना चाहिये।'

पवनकुमार श्रीहनूमान्‌जी कहते है—'हे प्रभो ! आप सब शास्त्रोके ज्ञाता है; शक्तिशाली, सर्वसमर्थ है । आपको मै क्या मन्त्रणा दूँ ? आपके विचारके सामने साक्षात् बृहस्पतिकी भी मन्त्रणा तुच्छ है; मै स्वेच्छासे, आसक्तिसे या तर्कसे कुछ भी नहीं कहता । केवल आज्ञानुरोधसे अपना विचार आपके चरणोमे निवेदन करता हूँ । विभीषणको यहाँ बुलाकर उससे सब वृत्तान्त जानना चाहिये । सहसा यहाँ बुलाना भी अनुचित है, पर दूत भेजकर सब बाते जानना भी ठीक नहीं जँचता । विभीषण यदि आपको रावणसे अधिक पराक्रमी और गुणवान् समझकर आया है तो उसने बड़ी बुद्धिमानीका काम किया है । यदि दूत भेजकर परीक्षा की जायगी तो वह शंका करेगा और दुखी भी होगा । उसकी बोलचालमे कोई दुष्ट भाव नही दीखता । उसका मुख प्रसन्न है, इसलिये विभीषणपर सन्देह नही होता । यदि वह धूर्त्त होता, तो शंकाशून्य स्वस्थचित्तसे आपके पास नही आ सकता । रावणको बलगर्वित, पापपरायण देखकर उसका नाश करानेके लिये तथा राज्यकी कामनासे वह यहाँ आया है । अतः आपको विभीषणका संग्रह करना चाहिये ।'

हनूमान्‌के इन नीति, धर्म, भक्ति और रहस्ययुक्त अपने मनके-से वचन सुनकर जानकीवल्लभ श्रीरामने कहा—'मित्रो ! आप सबने मेरे हितके लिये ही परामर्श दिया ।' अब मेरी इच्छा सुनिये—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन ।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम् ॥

(वा० रा० ६ । १८ । ३)

'मित्रभावसे आये हुए विभीषणको मै कभी नहीं त्याग सकता। यदि कुछ दोष भी हो तो भी ऐसे आगत जनको नहीं त्यागना चाहिये। यही सत्पुरुषोकी स्तुत्य सम्मति है।'

तदनन्तर सुग्रीवने फिर कहा—'श्रीराम! विभीषण दुष्ट हो या शिष्ट, पर वह राक्षस तो है ही। आपत्तिके समय जब उसने अपने भाईको त्याग दिया है तो फिर वह किसका त्याग नही कर सकेगा? जातिवाले और समीपवर्त्ती लोग कभी-कभी शत्रुओकी सहायता किया करते हैं; परन्तु जब आपत्ति आती है तब उनपर ही प्रहार करने लगते हैं, यह भी इन्ही सब कारणोसे आया होगा। इसके सिवा शास्त्रोमें भी शत्रुके बलका ग्रहण करना दोषयुक्त बतलाया है, क्योकि इसमें धोखा ही होता है।' इस प्रकार सुग्रीवने भगवान् श्रीरामके सामने अनेक युक्तियुक्त तर्क उपस्थित किये। श्रीरामने इन विचारयुक्त तर्कोको सुन, प्रसन्न हो सुग्रीवकी बड़ी प्रशंसा की और कहा, 'मित्र! यह राक्षस दुष्ट हो या शिष्ट, मेरा कुछ भी अपकार नहीं कर सकता; क्योकि मै चाहूँ तो पृथ्वीपर जितने राक्षस, पिशाच, दानव और यक्ष है, सबका अँगुलीके अग्रभागसे ही विनाश कर दूँ। जब कपोत-सरीखे पक्षीने भी शरण आये शत्रुका अपना मांस देकर सत्कार किया था, तब भला, मै इनका कैसे त्याग कर सकता हूँ?

बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप॥
आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥

स चेद्भयाद्वा मोहाद्वा कामाद्वापि न रक्षति ।
स्वया शक्त्या यथान्यायं तत्पापं लोकगर्हितम् ॥
विनष्टः पश्यतस्तस्य रक्षिणः शरणं गतः ।
आदाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः ॥
एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे ।
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम् ॥
(वा० रा० ६ । १८ । २७-३१)

'हे परंतप ! जब शत्रु दीनतासे हाथ जोड़कर शरणकी याचना करता हुआ प्रणाम करने लगे तो अपने ऊपर क्रूरतारूप दोष न आने देनेके लिये भी उसको न मारे । शत्रु दुःखमे पड़ा हो, गर्वसे भरा हो अथवा दूसरोंके भयसे शरणमे आया हो, तब भी कृतात्मा पुरुप प्राणोकी कुछ भी परवा न कर उसकी रक्षा करे । जो पुरुष भय, मोह या कामसे शरण आये हुए शत्रुकी अपनी शक्तिके अनुसार न्यायपूर्वक रक्षा नही करता, वह पापका भागी होता है और संसारमें उसकी निन्दा होती है । रक्षा चाहनेवाला पुरुप यदि रक्षा न पाकर रक्षककी आँखोके सामने मारा जाता है तो रक्षकके सब पुण्य मरनेवालेको मिलते है और वह स्वर्गको चला जाता है। इस प्रकार शरणागतकी रक्षा न करनेमे बड़ा भारी दोष है और उनकी रक्षा न करना स्वर्गसे भ्रष्ट करनेवाला, अपयश देनेवाला और बलवीर्यको नष्ट करनेवाला है ।'

सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि ।
ते नर पाँवर पापमय, तिन्हहिं बिलोकत हानि ॥

सत्पुरुषोंके व्यवहारको दिखाकर शरणागतवत्सल भगवान् श्रीराम अपने व्रतकी अर्थात् नियमकी घोषणा करते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा० ६।१८।३३)

'यह मेरा व्रत है कि जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर, 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कह मुझसे शरणकी याचना करता है, मैं उसको सर्व प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ।'

मम पन सरनागत-भय-हारी॥
कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(रामा० सुन्दर०)

तदनन्तर भगवान् आज्ञा देते हैं कि—'हे सुग्रीव!

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

(वा० रा० ६।१८।३४)

यह व्यक्ति विभीषण हो चाहे स्वयं रावण हो, तुम उसको लिवा लाओ, मैंने उसे अभय दान दे दिया।'

जो सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रानकी नाईं॥

प्रभुकी इस प्रकारकी घोषणाको जो पुरुष जानता है और जो उसपर विश्वास करता है वह अन्य समस्त आश्रयोंको त्यागकर एकमात्र शरणागतभयहारी भगवान्‌के ही शरण चला जाता है, वह कभी इधर-उधर नहीं भटकता। भगवान्‌की शरणागतिसे वह

सदाके लिये निर्भय हो जाता है। भक्त भर्तृहरिजी महाराज अपने चित्तको उपदेश देते हुए कहते हैं—

नायं ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथो यदि
स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां वचः।
चेतस्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितु-
र्निर्दौवारिकनिर्दयोक्त्यपरुषं निःसीमशर्मप्रदम् ॥

(भर्तृ० वैराग्यशतके १४४)

'रे चित्त! देख, यदि तू किसी साधारण राजा या धनीके दरबारमें जाता है तो उनके दरवाजेपर पहुँचते ही द्वारपाल तुझसे कहता है—'अभी मिलनेका समय नहीं है, स्वामी एकान्तमें हैं।' फिर दूसरे समय जाता है तो कहता है कि 'स्वामी सोते हैं। मुलाकात न होगी।' यदि भिक्षुक वहीं द्वारपर बैठ रहता है तो वह कहता है 'यहाँ मत बैठो, स्वामी देखेंगे तो नाराज होंगे।' अतएव रे चित्त! अब भी सावधान हो और सांसारिक लोगोंके आश्रयकी आशा त्यागकर उस जगत्पति प्रभुके दरबारकी शरण ले, जहाँ न तो द्वारपर रोकनेवाला द्वारपाल है और न कोई कठोर वचन ही सुनानेवाला है, प्रत्युत जो उसी क्षण अनन्त आनन्दको देनेवाला है।'

भगवान् श्रीरामकी आज्ञा पाकर सुग्रीव और हनुमदादि अनुचर विभीषणको प्रभुके सम्मुख ले आते हैं और विभीषण जब भगवान्‌के सम्मुख आता है तो भगवान्‌की रूपमाधुरी देखकर वह चित्रवत् हो जाता है—

बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठठुकि एकटक पल रोकी॥

और यह कहता हुआ प्रभुके चरणोमे छिन्नमूल वृक्षकी भाँति गिर पडता है—

श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन, सरनसुखद रघुबीर॥

(रामा० सुन्दर०)

भगवान् श्रीरामकी शरणागतवत्सलता अनुपमेय है। प्रभुपाद श्रीगोस्वामीजी कहते है—

नाहिन और कोऊ सरनलायक दूजो
श्रीरघुपतिसम बिपतिनिवारन।
काको सहज सुभाउ सेवकबस,
काहि प्रनतपर प्रीति अकारन॥
जनगुन अलप गनत सुमेरु करि
अवगुन कोटि विलोकि बिसारन।
परम कृपालु भगतचिंतामनि
बिरद पुनीत पतित-जन-तारन॥

(विनयपत्रिका २०६)

श्रीशिवतत्त्व

वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शङ्करम् ।

(अपराधभञ्जनस्तोत्रात्)
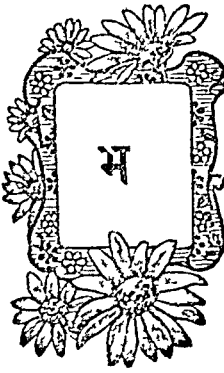
गवान् शिवकी चर्चा सच्चिदानन्दघन परमेश्वरकी ही चर्चा है । मै तो यही समझता हूँ कि शिवकी महिमा गानेमे हम किसी साम्प्रदायिक उद्देश्यको सम्मुख न रखकर उस परात्पर प्रभुकी ही मंगलमयी चर्चा करते है, जो वेद-शास्त्रोमे शङ्कर, रुद्र, महेश्वर, विश्वनाथ, महादेव इत्यादि नामोसे भी अनेक स्थलोमे वर्णित है । अतएव कभी भगवान्के किसी नाम-रूपपर, और कभी किसी नाम-रूपपर विचार प्रकट करना युक्तियुक्त ही है । वही लेखनी, वाणी और मन सार्थक है जो विश्वपतिके गुण-महिमा-रहस्यका प्रकाश करे । श्रीमद्भागवतमे भी कहा है—

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः ।

तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥

(१२।१२।४८-४९)

'जिस कथामे भगवान् अधोक्षजकी चर्चा नही है वह असत् और मिथ्या है। जिस कथामे भगवान्के गुणगणवर्णनका प्रसङ्ग है, वही सत्य मङ्गलदायिनी और पुण्यमयी है। जो उत्तमश्लोक भगवान्के यशसे पूर्ण हो वही परमरमणीय और पल-पलपर नित्य नवीन है; वही महान् उत्सवस्वरूप है और वही मनुष्योके शोक-सागरको सुखानेवाला है। जगत्मे जिस प्रकार खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषामे सब मनुष्योकी एक-सी रुचि नही होती, वैसे ही भगवत्-उपासनामे भी सबकी एक-सी रुचि होना सम्भव नही है। यह अवश्य है कि युक्त और वैध आहार-विहार चाहे भिन्न-भिन्न प्रकारका क्यो न हो, उसका परिणाम शरीररक्षा आदि समान ही होता है, परन्तु उसीके अयुक्त और अवैध होनेपर फलमे समानता नही रहती। वैसे ही उपासनामे नाम-रूपका भेद होनेपर भी युक्त और वैध उपासनाका परिणाम सर्वत्र एक ही होता है, अवैध—अयुक्त होनेसे ही फलमे भेद हो जाता है।

प्राचीन आर्य ऋषियोने सच्चिदानन्दघन परमात्माके अनेक नामो और रूपोके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी उपासनाकी विधि

शास्त्रोमे बतलायी है। इन सब विभिन्न उपासनाके भेदके मूलमे भाव, उद्देश्य, हेतु सब युक्तियुक्त रक्खे गये है। हाँ, यह बात अवश्य है कि जनसाधारण अपने-अपने भाव, उद्देश्य और रुचिके अनुसार नाम-रूपकी उपासनाको पसन्द करते हैं। सकाम उद्देश्य-के अतिरिक्त यदि निष्कामभावसे भक्ति-श्रद्धासे युक्त होकर भगवान्के किसी भी नाम-रूपकी उपासना की जाय तो परिणाम सबका कल्याण ही है। पुष्पदन्त भक्तने कहा है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(शिवमहिम्न ७)

'तीनो वेद (वेदविहित मार्ग), सांख्य (कापिलमतानुसार मार्ग), योग (पतञ्जलिऋषिनिर्दिष्ट मार्ग), पाशुपत शास्त्र (शैवमत), वैष्णव (वैष्णवमत) इत्यादि अनेक विभिन्न मार्ग हैं; इनमेसे किसीके मतसे कोई मार्ग श्रेष्ठ और हितकर है तो किसीके मतसे कोई मार्ग। परन्तु मनुष्योके रुचिवैचित्र्यके कारण अर्थात् रुचिभेदसे सरल और कुटिल अर्थात् कठिन प्रतीत होनेवाले नाना मार्गोंसे चलनेवाले भक्त उसी एक देवाधिदेव महादेवको प्राप्त होते है, जैसे अनेक नदियोका जल भिन्न-भिन्न मार्गोंसे सीधा या टेढा घूम-फिरकर अन्तमे एक समुद्रमे ही जाकर शान्त होता है।'

जब हम तात्त्विक दृष्टिसे शिव-नाम-रूपको विचारते है तो यही समझमे आता है कि यह उपासना अखिल भुवनपति महेश्वर-

की ही है जो सारे जगत्‌के उत्पत्तिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता है, जो सारे जगत्‌मे अव्यक्तरूपसे व्याप्त है और जिनके अतिरिक्त कुछ भी नही है । उपनिषदोमें कहा है—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥

(श्वेता० ३ । २)

'रुद्र एक है, उन्होने (जाननेवालोने) दूसरा नही ठहराया है । जो अपनी शक्तियोसे सब लोकोपर शासन करता है, जो सब लोगोके पीछे वर्तमान है अर्थात् सबमे वर्तमान है और सारे भुवनोको रचकर रक्षा करता तथा अन्तकालमे समेट लेता है ।'

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥
महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥

(श्वेता० ३ । ११-१२)

'जिनके सर्वत्र मुख, सिर और ग्रीवा है, जो सम्पूर्ण जीवोके हृदयमे विराजमान है, सर्वव्यापी तथा सबके अन्दर रमे हुए है वही भगवान् शिव है । वह शिवभगवान् पुरुष है, महान् प्रभु है, सत्त्वके प्रवर्त्तक अर्थात् अस्तित्वके आधार है; अविनाशी ज्योतिः-स्वरूप है तथा हर एक पदार्थमे अपनी पुण्यतम प्राप्तिके स्वामी है, अर्थात् उन्ही भगवान् शिवकी कृपासे सर्वत्र उनके पवित्र स्वरूपकी प्राप्ति हो सकती है ।' शास्त्रोमे कही-कही शिवको संहारकर्ता

कहा है, वह भी ठीक ही है; क्योंकि एक ही अखिल भुवनपति महेश्वर तीन रूपसे उत्पत्ति, पालन और संहारकर्ता बनते है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामे कहा है—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

(१३।१६)

'वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे (आकाशके सदृश) परिपूर्ण हुआ भी चराचर सम्पूर्ण भूतोमे पृथक्-पृथक्के सदृश प्रतीत होता है और वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे धारण-पोषण करनेवाला, रुद्ररूपसे संहार करनेवाला और ब्रह्मारूपसे उत्पन्न करनेवाला है।'

यहाँ कार्यभेदसे एक ही परमात्माके तीन नामोका वर्णन है। श्रुतिमे भी कहा है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।

(छान्दोग्य० ३।१४।१)

'यह सब ब्रह्म है; क्योकि उससे उत्पन्न हुआ है, उसीमे लीन होता है और उसीमे स्थित है। अतएव शान्त होकर उसीके ध्यानमें स्थित होना चाहिये।'

यहाँभी एक ही परमात्माको भिन्न-भिन्न कार्योंका कर्ता बतलाया है। जगत्पति परमात्मा तीन नहीं है, एक ही है; एकहीके कार्य-भेदसे नाम-रूपोका भेद पाया जाता है। जो लोग शिवको केवल संहारकर्ता मानकर उपासते है वे लोग शिवके एक ही अंगकी उपासना करते है। उनकी उपासना पूर्ण उपासना नही समझी

जा सकती। यह बात पाठकोकी सेवामे पहले भी निवेदन की जा चुकी है कि उच्च कोटिका साधक या भक्त अपने इष्टदेवको किसी भी अंशमे खर्व नही कर सकता। उसके इष्टदेवसे ऊँचा और कुछ नही है, उसमे अपूर्णता किसी भी अंशमे नही है। अपरिमित, अपरिच्छिन्न शक्तिवाला ही सर्वकाल और सर्वदेशव्यापी होता है। उपर्युक्त वर्णनसे भगवान् शिवके साकाररूपमे कुछ भी विरोध नही आता। विष्णु भगवान्के जिस प्रकार दो रूपोका वर्णन पाया जाता है—एक अव्यक्त (व्यापक) और दूसरा व्यक्त (साकार), उसी प्रकार भगवान् शिवके भी दो रूप है—एक अव्यक्त (सर्वव्यापक) और दूसरा (कैलासपुरीनिवासी साकार शिव)। साकार शिवकी अनेक लीलाओ और चरित्रोका वर्णन पुराणोमे मिलता है। शिव-भक्त शिवकी जिस रूपसे उपासना करता है, सच्ची भक्ति और श्रद्धा होनेसे उसी रूपमे उनका दर्शन भी पाता है। साकाररूपमे भी प्रधान दो भेद है—एक हस्तपदमस्तकादि पूर्णाङ्ग-विशिष्ट दिव्य स्थूल रूप (यहाँ 'स्थूल' शब्दसे पाञ्चभौतिक देह नही समझनी चाहिये) और दूसरा सूक्ष्म रूप अर्थात् शिवलिङ्ग। शिव भगवान्-के स्वरूपका जो वर्णन पाया जाता है वह उच्च कोटिके वैज्ञानिक भावोसे पूर्ण है। उसका किञ्चित् दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है—

भगवान् शिव विरक्त और त्यागी है, श्मशान उनका निवास-स्थान है, भस्म उनका अङ्गराग है, पिशाच उनके सहचर है, वे मुण्डमालको धारण करनेवाले है—

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटी परिकरः।

(शिवमहिम्न २४)

ऐसे प्रभु जिनके उपास्यदेव हैं वे भक्त कभी विषय-भोगाभिलाषी नहीं हो सकते । प्रायः शिवके उपासक त्यागी, संन्यासी और विरक्त पुरुष ही देखे जाते है, विरक्तकी उपासना विरक्त होनेसे ही बनती है । शिवका वस्त्र है पशुचर्म, भूषण है रुद्राक्ष और सर्प, केशप्रसाधनके स्थानमे है जटा, अवलम्बन भिक्षा, वाहन वृषभ तथा आक-धतूरा आदि गन्धहीन पुष्पोसे उनकी पूजा होती है । ये सभी वैराग्यके लक्षण है । ऐसे त्यागमूर्ति भगवान्‌की उपासना वैराग्यवान् ही करते है, क्योंकि जब स्वयं प्रभु वैराग्यकी मूर्ति बनकर वैराग्यकी शिक्षा दे रहे है तब विषय-भोग-सम्पदायुक्त होकर उनकी सेवा कभी शोभा नही देती । शिवप्रेमी क्या मनोरथ करता है—

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः ।
भवाभोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्यार्तवचसा
कदा स्यामानन्दोद्गतबहुलबाष्पाप्लुतदृशः ॥

(भर्तृहरेः वैराग्यशतके ८५)

‘जहॉ शुभ्र ज्योत्स्ना फैली हुई हो, निर्मल स्थल हो, ऐसे गंगातटपर सुखसे बैठे रहे; जब सब ध्वनि शान्त हो जाय तब रात्रिमे आर्तस्वरसे ‘शिव-शिव-शिव’ कहते हुए संसारके भोगोसे व्याकुल हो और आनन्दके ऑसुओसे नेत्र पूर्ण हो रहे हो; ऐसी अवस्था हमारी कब होगी ?’

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरि-
द्गुहा एवागारं वसनमपि ता एव हरितः ।

सुहृद्वा कालोऽयं व्रतमिदमदैन्यव्रतमिदं
कियद्वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ॥

(भर्तृहरेः वैराग्यशतके १०४)

'महादेव ही एक देव हो, गंगा ही नदी हो, एक कन्दरा ही घर हो, दिशा ही वस्त्र हो, काल ही मित्र हो, किसीसे दीनता न करना ही व्रत हो और, कहाँतक कहे, वटवृक्ष ही हमारी वल्लभा हो।' इत्यादि शिवभक्तोके भावोके नमूने है। शिवका वर्ण श्वेत है, जो वर्णहीन शुद्ध ब्रह्मका प्रतिपादक है।

शिवके त्रिनेत्र—त्रिकाल अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमानके ज्ञान या सर्वज्ञताके प्रतिपादक है।

शिवका त्रिशूल—आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक तीन प्रकारके शूलोसे बचानेवाला है।

शिवका मुण्डमालाका धारण—मृत्युको स्मरण करानेवाला है, जिससे संसारमे आसक्ति नही रह जाती।

शिवका विषपान—विषय-भोग ही विष है। विषयभोगाभिलाषी विषजर्जरित समझे जाते है। वे लोग त्याग-वैराग्यकी महिमाको नही जानते। संसारभोग ही उनका चरम लक्ष्य है, परन्तु विचारवान् ज्ञानी भोग-विलाससे उदासीन रहते है और त्याग-वैराग्य ही उनका लक्ष्य होता है। कहा भी है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

(भगवद्गीता २। ६९)

इस प्रकारसे शिव विषयभोगरूपी विषको पान करनेवाले हैं अर्थात् इस विषसे छुडानेवाले है।

यहाँ प्रकृति देवी ही जगन्माता पार्वतीके रूपसे विराजमान है, क्योकि जगत्‌की उत्पत्ति प्रकृति-पुरुषके संयोगसे ही होती है। हमलोग जो शिवके वक्षःस्थलपर कालिकाकी मूर्त्तिको देखते हैं उसमे भी यही दिखाया गया है कि निष्क्रिय, शुद्ध ब्रह्मरूप शिव शान्तरूपसे स्थित है और प्रकृति या मायारूपी कालिका उस ब्रह्मके आश्रित एक देशमे स्थित है। यहाँ एक प्रकारसे जगत्‌का ही स्वरूप दिखाया जाता है, जो कुछ भी दृश्य हमलोगोके इन्द्रिय-गोचर होते है वे सब मायिक है अथवा प्रकृति देवीके स्वरूप हैं जो सामने आधेयरूपसे खड़े हुए स्पष्ट दीखते है। पर जब साधक गुरुकृपासे शिक्षा प्राप्तकर, प्राकृत सब वस्तुओसे अपनी दृष्टिको हटाकर, उसके जड़-मूलमे क्या तत्त्व है—इस बातकी खोज करता है तब वह शान्तरूपसे स्थित, सबके आधार, कल्याणरूप शिवको पाकर कल्याणको प्राप्त होता है—

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

(श्वेता० ५। १३)

'सारे विश्वको घेरनेवाले अर्थात् उसके आधाररूप उस एकमात्र देवको जानकर सब फाँसोसे मुक्त हो जाता है।'

अब शिवके सूक्ष्म रूपके विषयमे विचार कीजिये। यह भी युक्तियुक्त उपासना है, वास्तविक भावसे अनभिज्ञ होनेके कारण लोग नाना प्रकारकी शङ्काओके जालमे पड जाते है। श्रद्धापूर्वक

विचार करनेपर ऐसी शङ्काओंके लिये कोई स्थल नहीं रहता। शिवका सूक्ष्म रूप अथवा शिवलिङ्ग शिवस्वरूपकी ही उपासना है, शिवके किसी अङ्गविशेषकी उपासना नहीं है। लिङ्ग शब्दका अर्थ है 'चिह्न'—जैसे विष्णुकी पूजा शालग्रामशिलामें की जाती है वैसे ही शिवकी पूजा पाषाण या मृन्मयी शिवलिङ्गमूर्तिमें की जाती है। यहाँ शिवलिङ्ग शब्दमें अन्य किसी प्रकारकी कुत्सित भावना करना अज्ञतामात्र है। शास्त्रोंमें अनेक देवताओंकी आराधना उनकी हस्तपदविशिष्ट मूर्त्ति न बनाकर अन्य किसी भी आकारके पाषाण आदिमें भी करनेकी विधि है और इस आराधनकालमें उस-उस पाषाण आदिके आकारकी भावना नहीं रक्खी जाती, बल्कि उन-उन देवोंकी ही भावना की जाती है जिनकी पूजा होती है। इस बातको समझनेके लिये अधिक दूर जानेकी आवश्यकता नहीं, केवल आप उन पूजाके मन्त्रोंके अर्थोंका ज्ञान कर लीजिये। बस, पता लग जायगा कि वह पाषाणकी पूजा नहीं है, देवताओं-की ही पूजा है। उदाहरणरूपमें पार्थिव शिवलिङ्ग बनाकर इस प्रकार ध्यान किया जाता है—

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।…

जब इस प्रकारके मन्त्रोंको स्मरण करके हम ध्यान करते हैं तब हमारी पूजा भी उसीकी होती है जिसका वर्णन मन्त्रसे किया जाता है, अन्यकी नहीं।

इस प्रकार शिवभगवान्‌के सभी साकार रूप अत्यन्त

भावपूर्ण और शिक्षाप्रद हैं, जिनका दिग्दर्शन संक्षेपसे ऊपर कराया गया है। विस्तारभयसे अब यह विषय यहाँ ही छोड़ दिया जाता है और अन्तमें यही निवेदन है कि 'शिव' शब्द कल्याणवाचक, मंगलवाचक है। शिवका नाम 'आशुतोष' अर्थात् 'शीघ्र प्रसन्न होनेवाला' भी है।

तुलसीदासजीने कहा है—

को जाचिये संभु तजि आन।
दीनदयालु भगत-आरतिहर, सब प्रकार समरथ भगवान।
. ...
सेवत सुलभ उदार कलपतरु, पारवतीपति परम सुजान।

(विनयपत्रिका ३)

किसी भी मनुष्यको शैव नाम-रूपसे द्वेष रखकर वैष्णवीय नाम-रूपकी उपासनासे लाभ नहीं होता और न वैष्णवीय नाम-रूपसे द्वेष रखकर शैव नाम-रूपकी उपासनासे ही लाभ होता है। शास्त्रोंमें तो इस भेदभावको दूर करनेके लिये यहाँतक दिखाया गया है कि राम, कृष्ण, विष्णु आदिने शिवकी उपासना की है और शिवजीने विष्णु, राम, कृष्ण आदिकी उपासना की है। वास्तवमें इनमें कोई भेद नहीं है। उपासना चाहे जिस नाम-रूपकी हमलोग करें, किसीमें कोई भी हानि नहीं है; पर अन्य किसी नाम-रूपसे द्वेषभाव न रखना ही बुद्धिमत्ता है।

ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ (यजु० ३४।१)

श्रीशक्ति-उपासना-तत्त्व

सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
गुणाश्रये गुणमये नारायणि नमोऽस्तु ते॥

(मार्क० ८८। १०)

शक्ति-उपासना प्राचीन है। अवश्य ही वर्तमानकालीन शक्ति-उपासनामे, मध्ययुगकी उपासनाके अनुसार अति प्राचीन-कालकी उपासनासे बहुत कुछ भिन्नता आ गयी है। काली, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, योगमाया तथा अन्य किसी भी देवीकी उपासना साधारणतः शक्तिकी उपासना कही जाती है। हॉ, अपने भाव और उद्देश्यके भेदके अनुसार पूजाविधिमे भेद है; वैदिक, पौराणिक तथा तान्त्रिक उपासनामे भी भेद है। मै यहॉ पूजाके भेदोकी विस्तारसे समालोचना करना नही चाहता, पर यह अवश्य है कि आधुनिक शक्ति-उपासनामे प्रायः कई बड़े दोष आ गये है और वे मध्ययुगकी तान्त्रिक उपासनाकी रीतिपर अभीतक चल रहे है। यद्यपि इधर उनमे कई प्रकारके हेरफेर हुए है, परन्तु

हिंसात्मक विधि अभीतक बनी हुई है ही। उदाहरणतः देवी-पूजामें जहाँ-तहाँ बकरे, महिष तथा अन्य पशुओंकी बलिकी रीति अभीतक प्रचलित पायी जाती है। मध्ययुगकालमें यह बलिप्रथा यहाँतक बढ़ गयी थी कि पूजा और धर्मके नामपर नरबलितक भी की जाती थी। यह प्रथा यद्यपि अब नहीं है, पर पशुओंकी बलि रागद्वेष और भोगकामनाके वशीभूत होकर मन्दिर और देवस्थानोंमें अब भी दी जा रही है। हाँ, कुछ प्रदेशोंमें और कुछ जातियोंमें आज भी वैदिक, पौराणिक रीत्यनुसार बिना पशुबलिके शक्तिपूजा होती दिखायी देती है; परन्तु ऐसे स्थल बहुत ही कम है। बड़े खेदकी बात है कि मातृपूजाके लिये पशुओंकी हत्या करनेमें अच्छे-अच्छे विद्वान् पण्डित भी सम्मत हैं और शास्त्रोंमें भी पशुबलिकी सम्मति और निषेध दोनों प्रकारके वचन मिलते हैं। ऐसी अवस्थामें शक्ति-उपासक भाई यदि उदार हृदयसे निःस्वार्थ भावसे इस विषयपर गम्भीर विचार करें तो यह उनकी समझमें आ जायगा कि ऐसी हिंसात्मक रीति निःसन्देह अवैध और अयौक्तिक है। धर्मके नामपर ऐसे अनाचार सर्वथा त्याज्य है। महात्मा बुद्धदेवके अवतरणके पूर्व पशुहिंसायुक्त उपासनाका प्रचलन था और उन्होंने इस अनाचारको सर्वप्रकार अकल्याण-कारी समझकर इसके मूलोच्छेदनके लिये भगीरथ प्रयत्न किया था और उसमें उन्हें सफलता भी मिली थी। उन्होंने सारे जगत्‌में उस समय 'अहिंसा परमो धर्मः' सिद्धान्तका प्रचार किया था और करोड़ोंकी संख्यामें इस धर्मके माननेवाले हो गये थे। परन्तु अफसोस! समयके परिवर्तनके साथ-साथ मनुष्योंकी भोगलोलुपताकी

पुनः वृद्धि हुई और फिर देवदेवीकी पूजाके नामपर अपनी रसनेन्द्रिय-को चरितार्थ करनेवाली हिंसात्मक पूजा बढने लगी। कोई भी हृदयवान् पुरुष इसको युक्तिसङ्गत कहनेका साहस नहीं करेगा। यह केवल उन्हीं लोगोंद्वारा प्रतिष्ठित है जो आमिषभोजी हैं और वही अपने स्वार्थवश इसका समर्थन भी करते है। इस बातको सभी स्वीकार करेंगे कि देव और देवी उसीको कहेंगे जो दैवी सम्पदासे पूर्ण हो और दैवी सम्पदाका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार किया गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

(१६। १-३)

इन छब्बीस प्रकारके गुणोंमें अभय, सत्त्वसंशुद्धि, अहिंसा, भूतदया, अलोलुपता, मार्दव—ये विशेष विचारणीय हैं। 'अभय' से यहाँ स्वयं निर्भय होना और अन्य सब जीवोंको अपनी ओरसे अभयदान देना अभिप्रेत है। 'सत्त्वसंशुद्धि'से यहाँ 'अन्तःकरणकी सब प्रकारकी निर्मलता' समझनी चाहिये। 'अहिंसा' का तात्पर्य है मन, वाणी और शरीरसे किसी भी जीवको कष्ट नहीं पहुँचाना। 'भूतदया'का अर्थ है सब जीवोंके प्रति निस्स्वार्थभावसे दया करना। 'अलोलुपता'का मतलब है भोग तथा लोलुपताका अभाव। 'मार्दव'का अर्थ हृदयकी कोमलता है।

प्रिय पाठकगण ! आप स्वयं ही सोच सकते है कि कोई देवी या देवता अपने लिये पूजाके बहाने किसी जीवकी हत्या करनेसे प्रसन्न होगा, या बलिदानको अङ्गीकार करेगा ? जो देवी चराचर जगत्की माता है वह अपने लिये जीवहिंसाकी स्वीकृति कैसे दे सकती है ? पाठकगण यह न समझें कि मैं देवी-उपासनाका विरोधी हूँ या उसे निन्दनीय समझता हूँ, मैं तो शक्ति-उपासनाका पक्षपाती ही हूँ । हाँ, उपर्युक्त हिंसात्मक विधिसे मेरी सहानुभूति नही है, कोई भी कल्याणकामी शक्ति-उपासनामे इस प्रथाको पसंद नहीं करेगा । यह प्रथा आमिषभोजी उपासकोंने अपनी वासनासे ही प्रचलित की है । सभी कल्याणकामी भाइयोंसे मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि शक्ति-उपासनामें जीवहिंसात्मक प्रथाको सर्वथा निकालकर शुद्ध सात्त्विक पूजा करें और यदि बलि देना है तो माताके सम्मुख आत्माभिमानका बलिदान दे । माताका सच्चा सेवक वही है जो जगत्की ममता और अभिमानको बलि देकर माताकी आज्ञानुसार अथवा माता जैसे चलाती है वैसे चलता है । जैसे परमहंस श्रीरामकृष्णजी महाराज अपने लिये कहा करते थे, 'तुमि यन्त्री, आमि यन्त्र; तुमि गृही, आमि घर; तोमार कर्म तुमि करो माँ, लोके बोले करि आमि ।' अर्थात् मै बाजा हूँ, आप बजानेवाली हैं; मै घर हूँ, आप घरमे रहनेवाली मालकिन है; आप ही सब कुछ कर रही है, अज्ञानसे लोग अपनेको कर्त्ता मानते हैं । भाव यह है कि जैसे माता चलावें वैसे ही चले । अपना कर्तृत्वाभिमान जरा भी न रक्खे, इसीको आत्मबलिदान कहते हैं । यह बलिदान

कल्याणमार्गमे अवश्य सहायक है। यदि कोई भाई ऐसा प्रश्न करे कि कल्याणकामीको पशुहिंसा नही करनी चाहिये, पर सांसारिक भोगसुखके चाहनेवाले यदि ऐसा करे तो क्या हानि है? उत्तरमे मेरा यह निवेदन है कि संसारके सुख प्रारब्धसे अतिरिक्त हिंसात्मक कृत्यसे कभी नही मिल सकते और फिर उन्हे देगा ही कौन? क्योकि कोई देव या देवी तो हिंसा चाहते नही। हिंसा तो एक आसुरी कृत्य है; फिर जो अचिन्त्य असीम शक्ति है, जो सबके शुभाशुभ कर्मोंके फलको देनेवाली है वह शक्ति-माता ऐसी हिंसात्मक आसुरी पूजा क्योकर स्वीकार करेगी? अधिकन्तु हिसाका फल दुःख और कष्ट ही मिलता है। अतएव माताके नामपर कोई भाई भी ऐसी भूल न करें। जगत्‌में कोई कैसा ही बलवान्, धनी, विद्वान्, सामर्थ्यवान् क्यो न हो, ईश्वरीय न्यायराज्यमे उसे पापका फल दुःख और कष्ट तथा धर्मका फल सुख और आनन्द भोगना ही पड़ता है। उस अमित शक्तिके सामने सभीको झुक जाना पड़ता है। उसके न्यायके विरुद्ध कोई कुछ भी नही कर सकता। आप लोग जानते है, सब धर्मोंने अहिंसाको परम धर्म माना है और सभी शास्त्र और ऋषियोने भी इसे स्वीकार किया है। जो लोग अहिंसा-धर्मका पालन करनेवाले है उनसे कोई भी धर्माचरण बाकी नही रह जाता। सब धर्म इसके अन्दर आ जाते है।

मै तो यही कहूँगा कि जो लोग माताके नामपर हिंसाके पक्षपाती है वे केवल परम्परागत प्रथा, भोगलालसा और अज्ञानके

वशीभूत होकर ऐसा करते हैं। आधुनिक युगने इस रहस्यको जाननेवाले कई ऐसे शक्तिके अनन्य उपासक हो गये है जिनके पास हिंसाकी गन्ध भी नही थी, तथापि उन्होंने उस अचिन्त्य शक्तिरूपा देवीका साक्षात् दर्शन और उससे सम्भाषण किया था। उनकी कृपासे अनेक जीवोका हित हुआ है और अब भी हो रहा है। यद्यपि वे लोग पाञ्चभौतिक शरीरसे इस समय वर्तमान नही है, परन्तु उनके उपदेश और आचरण सदैव चिरस्मरणीय है। ऐसे महापुरुषोके दो एक नाम आपलोगोके सम्मुख मै प्रकट करूँगा, जिनकी कृपावर्षा भारतमे ही नही बल्कि भारतसे बाहर भी हो रही है! परम श्रद्धेय पूज्यपाद परमहंस श्रीरामकृष्णदेव तथा भक्तशिरोमणि रामप्रसाद महात्माको कौन नहीं जानता? बंगालमे तो घर-घरमें इनकी गुणगाथा गायी जाती है। ऐसे तत्त्ववेत्ता ज्ञानियोंकी पूजा परिच्छिन्न नही थी। वे लोग अनन्त चेतन-शक्तिकी ही देवीरूपसे उपासना करते थे। कल्याणकामी उपासकको चाहिये कि अपने उपास्यमे कभी भी परिच्छिन्नभाव न आने दे। उपासना चाहे किसी भी रूपकी क्यो न हो और किसी भी भावसे क्यो न हो, इसमे कोई आपत्ति नही। गीताने कहा है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ (९।१७)

मै ही इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण-पोषण

करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला तथा पिता, माता और पितामह हूँ और जाननेयोग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मै ही हूँ। यहाँपर यह दिखलाया गया है कि उस सर्वव्यापी चेतन सत्ताकी मातारूपसे या पितारूपसे अथवा स्वामीरूपसे—किसी भी रूपसे उपासना कर सकते है, पर भाव पूर्ण और अनन्य होना चाहिये। पूर्णकी उपासनासे ही पूर्णकी प्राप्ति होती है और अपूर्णकी उपासनासे अपूर्णकी। उपनिषद्में लिखा है—

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

(बृह० ५। १। १)

बंगालमे मातृभावसे उपासनाकी प्रथा अधिक प्रचलित है, क्योकि जीवमात्रको माता सबसे अधिक प्रिय और श्रद्धेय होती है। माता-जैसा कोमल, दयालु हृदय किसीका भी लोकमें दृष्टिगोचर नहीं होता। संतान कैसी भी दुष्ट-से-दुष्ट, स्वेच्छाचारी, मातृसेवासे विमुख क्यो न हो, फिर भी माँ अपनी ऐसी संतानकी भी सदैव हितैषिणी ही रहती है और स्वयं सन्तानकी सेवा करके प्रसन्न होती है। अपनी सन्तानका वह कभी त्याग नही करती। एक भक्तने कहा है—

जगन्मातर्मातस्तव चरणसेवा न रचिता
न वा दत्तं देवि द्रविणमपि भूयस्तव मया।
तथापि त्वं स्नेहं मयि निरुपमं यत्प्रकुरुषे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥

(श्रीशङ्कराचार्यस्य देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रात्)

'माँ' शब्दमे कितना प्रेमामृत भरा हुआ है, इसका वर्णन

नही किया जा सकता। पुत्र जब अपनी माँको 'माँ' 'माँ' कहकर पुकारता है तब माताका हृदय प्रेमसे भर आता है। ऐसे ही भक्तजन जब 'माँ' 'माँ' कहकर अपने उपास्य देवको पुकारते हैं तब उनके हृदयमे एक दिव्य आनन्दकी धारा बहने लगती है। इसको सभी प्रत्यक्ष उपलब्ध कर सकते हैं। एक भक्तने कहा है 'माता! मै तुझे माँ-माँ कहकर इतना पुकारता हूँ, परन्तु तू अभीतक सामने नही आती। इसका क्या कारण है? 'माँ' शब्द मेरे हृदयको बहुत प्रिय है और मेरी माताको भी अत्यधिक प्रिय था। जब मै 'माँ' कहकर उसे पुकारता था तो वह गद्गद हो जाती थी। माता! तुझको भी मालूम होता है 'माँ' शब्द अत्यन्त प्रिय है, इससे तू यह सोचती होगी कि इस बच्चेके पास यदि मै प्रकट हो जाऊँगी तो शायद यह 'माँ' की आवाज लगाना बन्द कर देगा। शायद इसी भयसे और 'माँ' की आवाज सुननेके लोभसे ही तू नही आती।' यह सब माताके पुजारीके भाव हैं। परमहंस रामकृष्ण स्वामी जब 'माँ, माँ' कहकर पुकारते थे तो शरीरकी सुध भूल जाते थे और विह्वल हो जाते थे।

सृष्टिकी उत्पत्तिमे पुरुष और प्रकृति दोनो ही हेतु हैं। जैसे गीतामे कहा है—

यावत्संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ (१३। २६)

यावन्मात्र—जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है

उसको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न हुई जान । अर्थात् प्रकृति और पुरुषके पारस्परिक संयोगसे ही सम्पूर्ण जगत्‌की स्थिति है, वास्तवमें सम्पूर्ण जगत् नाशवान् और क्षणभङ्गुर होनेसे अनित्य है ।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (१४।४)

नाना प्रकारकी सब योनियोमे जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मै बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ ।

जैसे बालककी उत्पत्तिमे माता और पिता दोनो ही हेतु है, वैसे ही जगत्‌की उत्पत्तिमे पुरुष और प्रकृति दोनों ही हेतु है और ये दोनों अनादि हैं । अब यह उपासककी चाहपर निर्भर है कि वह माताको प्रधान रखकर उपासना करे अथवा पिताको । इसका निर्णय भक्तकी अन्तःप्रवृत्तिपर निर्भर है । फलमे कोई भेद नही होता । भाव यदि सर्वोच्च हो तो फल भी सर्वोच्च ही होगा । उस अनन्त चेतनको कोई पुरुष कहता है, कोई अनन्त चेतन-शक्ति भी कह सकता है । यह ध्यान रखनेकी बात है कि जो उपास्यशक्ति-देवी है उसको केवल जड प्रकृति या माया नहीं समझना चाहिये । उसे चेतनशक्तियुक्त प्रकृति अथवा केवल चेतनशक्ति ही समझ सकते है । यही अचिन्त्यशक्ति सर्वरूपसे सबमे सब काल व्याप्त हैं । जैसे श्रीमार्कण्डेयपुराण अध्याय ८२ मे कहा है—

या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता। (१२)

कहीं—

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते। (१३)

कहीं—

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता। (१४)

कहीं—

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता। (१८)

कहीं—

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥ (३४)

उसीको—

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानां चाखिलेषु या।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्त्यै देव्यै नमो नमः॥ (३६)
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्। (३७)

—इत्यादि शब्दोसे पता लगेगा कि एक ही यह शक्ति अनेक रूपसे संसारमे व्याप्त है। इसीको कोई देवी, कोई काली, कोई शक्ति, कोई ईश्वर, विष्णु, शिव इत्यादि अनेक नामोसे वर्णन करते है। तत्त्वज्ञ ज्ञानीजन इस एक सत्ताके सिवा अन्य किसी भी सत्ताको नही देखते। सर्वत्र, सबमे, सब कुछ उसी अपनी अधिष्ठात्री शक्तिको देखते हैं और जो कुछ भी है सब उसीकी विभूति है। जिस समय निशुम्भ दैत्यको देवीने मारा था

और उसके भाई शुम्भने देवीके बहुत-से रूप देखकर कहा था कि तुम्हारे साथ अनेक सहायक हैं इसीलिये तुम जीत रही हो, तब देवीने उत्तर दिया था कि—

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा ।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः ॥ (मार्क० ८७। ३)

अर्थात् 'इस जगत्मे मै ही अकेली हूँ और अद्वितीय हूँ, अन्य क्या है? अर्थात् अन्य कुछ भी नहीं है। रे दुष्ट! जो कुछ तुझे अन्य भासता है सो सब मेरी विभूतियाँ हैं, यह देख सब मुझमे विलीन होती हैं।' इत्यादि वचनोसे सिद्ध है कि एक चेतन शक्ति ही है और उसके सिवा कुछ नहीं है और वह पूर्ण है। कल्याणकामी भक्तजन इसी भावसे उसे उपासते है। उस शक्तिके इस भावको हृदयङ्गम करना ही सच्ची शक्ति-उपासना है।

योगतत्त्व

'योग' शब्दका अनेक प्रकारके उद्देश्यों और भावोंमें प्रयोग किया जाता है। इस शब्दके आदिमें यदि कोई विशेषण आ जाय तो उस विशेषणके अनुसार इसका अर्थ होता है, जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें 'योग' शब्दसे कई प्रकारके विषयोंका वर्णन किया गया है। यथा—सांख्ययोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, अष्टाङ्गयोग, ऐश्वरयोग आदि। दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिको भी योग कहा है।

(क) *सांख्ययोग*—अहंता-ममताका नाश करके सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी परमात्मामें एकीभावसे स्थित होना।

(ख) *कर्मयोग*—फल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वर-अर्थ या कर्तव्यबुद्धिसे, समत्व भाव रखते हुए विहित कर्मोंको करना अर्थात् निष्काम कर्म।

(ग) *भक्तियोग*—साकार भगवान्‌को स्वामी समझकर अनन्य श्रद्धासे युक्त होकर चित्तको तन्मय करना।

(घ) *ध्यानयोग*—एकाग्र चित्तद्वारा शुद्ध, पवित्र और एकान्त स्थानमें योग्य आसनपर बैठकर संसारके चिन्तनका सर्वथा अभाव करके एक ईश्वरका ही चिन्तन करना।

(ङ) *अष्टांगयोग*—गीता अ० ८, श्लोक १२ अर्थात्

इन्द्रियोंको रोककर मनको हृदयमें स्थिर करके, प्राणोंको मस्तकमे स्थापन करके योगधारणामें स्थित होना इत्यादि तथा अध्याय ४, श्लोक २९ मे 'अपानवायुमे प्राणवायुको हवन करते है तथा अन्य योगीजन प्राणवायुमे अपानवायुको हवन करते है तथा अन्य योगीजन प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणायाममें परायण होते है' इत्यादि वचनोसे अष्टाङ्गयोगका वर्णन आया है ।

(च) *ऐश्वरयोग*—गीता अ० ९ श्लो० ५ मे दिखलाया है—'पश्य मे योगमैश्वरम्' तथा अ० १० श्लो० ७ मे—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

(छ) *आत्यन्तिक दुःखोंकी निवृत्तिरूप योग*—गीता अ० ६ श्लोक २३—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

अर्थात् दुःखके संयोगसे जो रहित है उसकी योगसंज्ञा है, उसको जानना चाहिये ।

योगके कई ग्रन्थोमें 'योग' शब्दसे मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग, लययोगका भी वर्णन है ।

मन्त्रयोग—'मन्त्रजपान्मनोलयो मन्त्रयोगः'—मन्त्रजापसे जो मनका लय करना है उसको मन्त्रयोग कहते है ।

हठयोग—'ह' से सूर्य, 'ठ' से चन्द्र अर्थात् इडा, पिङ्गला नाडी । इनके संयोगसे सुषुम्नाके उत्थानका साधन, तथा मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा आदि षट्चक्र भेद करनेको हठयोग कहते है ।

राजयोग—किसी स्थिर आसनसे और शाम्भवी आदि किसी मुद्राद्वारा चित्त एकाग्र हो जानेपर सुखपूर्वक आत्मसत्ताका अभाव होकर एक परमात्मभावके रह जाने तथा इसी अभ्याससे अर्थात् मनोनिरोधसे प्राणोंके निरोध होनेको राजयोग कहते हैं।

लययोग—यह अनेक प्रकारका है। स्थिर आसनमें बैठकर मनको अनहद शब्द, दिव्य प्रकाश या मूर्तिविशेषमें लय करनेका नाम लययोग है।

और भी अनेक प्रकारके योग तन्त्रशास्त्र और योगग्रन्थोंमें मिलते हैं। पातञ्जलयोगदर्शन, जो योगशास्त्रोंमें प्रधान मान्य ग्रन्थ है, उसके मतानुसार योगशब्दकी परिभाषा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योगसूत्र १।२)। अर्थात् चित्तवृत्तिके निरोधका नाम योग है। यहाँ 'निरोध' शब्दको समझनेके लिये चित्तकी पाँच अवस्थाओंका जानना आवश्यक है, क्योंकि योगशास्त्रकार चित्तकी निरुद्धावस्थाको ही योग मानते हैं। अन्य अवस्थाओंको योगभूमिमें नहीं अङ्गीकार करते, पर योगके साधनयोग्य जो चतुर्थावस्था अर्थात् एकाग्र अवस्था है उसको लिया है। शेष तीनों अवस्थाएँ साधनके योग्य भी नहीं हैं।

चित्तवृत्तिकी पाँच अवस्थाओंके नाम—मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

मूढ अवस्थाका स्वरूप—तमोगुणप्रधान, पूर्वापर तथा हानि-लाभके विचारसे रहित, अपने तुच्छ भोगके लिये परपीडन और हिंसापरायण काम, क्रोध आदि दुराचारसे पूर्ण वृत्ति। यह स्वरूप नीच पापी पुरुषोंका होता है।

क्षिप्त अवस्था—रज और तमप्रधान केवल स्वार्थ-भोगकी वृत्ति, जैसे साधारण भोगी संसारी पुरुषोकी होती है।

विक्षिप्त अवस्था—रजोगुणप्रधान संसारी पुरुषोंका चित्त कभी विषयोकी तरफ दौडता है तो कभी परमार्थकी तरफ, तथा अव्यवस्थित और चञ्चल रहता है। यह अवस्था जिज्ञासुओकी होती है।

एकाग्र अवस्था—सत्त्वगुणप्रधान साधक पुरुषोकी होती है, जिनकी चञ्चलता नष्ट हो गयी है, साध्यविषयमे चित्त लगा हुआ है।

निरुद्धावस्था—सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोका पूर्णतया शान्त हो जाना, इस प्रकारकी निरुद्धावस्थाको योग कहते हैं।

'योग' शब्दसे लोग मेल या सम्मिश्रण अर्थात् दो या अधिक पदार्थों या जीवोका मिलनरूप अर्थ ही ग्रहण करते है। पर योगदर्शनमे चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहा है और श्रीमद्भगवद्गीता-में 'दुःखोके संयोगके वियोग' का नाम 'योग' है। इस प्रकार साधारण प्रचलित अर्थमे और गीता तथा योगदर्शनके पारिभाषिक अर्थमे विपरीतता प्रतीत होती है, परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो वास्तवमे ऐसा नही है। शब्दोका प्रयोग कही वाच्यार्थमे और कहीं लक्ष्यार्थमे होता है, सभी स्थलोमें वाच्यार्थ नही लिया जाता। जैसे कोई दुःखसे पुकारता है कि 'मै मारा गया', तो इसका अर्थ यह नही कि वह सचमुच मर गया, बल्कि इतना ही अभिप्राय होता है कि उस पुरुषको अर्थ, पुत्र या अन्य किसी प्रकारकी ऐसी हानि हुई है जिसे वह मृत्युतुल्य मानता है।

गीता अ० ५, श्लोक १८ मे लिखा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

'ज्ञानीजन विद्याविनययुक्त ब्राह्मणमे, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें समदर्शी होते है।' यदि कोई इस श्लोकके अनुसार दूधके लिये गौ न लाकर कुतिया लाता है और सवारीके लिये हाथीके बदले विद्वान् ब्राह्मणको जोतता है तो वह ज्ञानी नहीं, उन्मादी है। तात्पर्य, लक्ष्यार्थ ही मुख्यतः देखना होता है। योग-शब्दकी परिभाषा गीता और योगदर्शनके मतसे उसी प्रकार लक्ष्य-से सम्बन्ध रखनेवाली है। योग-शब्दके सरलार्थके अनुसार देखें तो यही अर्थ निकलता है कि जीव और ईश्वरका संयोग वा मिलन ही योग है। परन्तु ईश्वरके संयोगके अनेक प्रकार हैं। जैसे कहीं तो एकीभावसे सम्मेलन है, अर्थात् आत्मसत्ता परमात्मामे लय होकर केवल परमात्मा ही अवशेष रह जाता है। जैसे गीता अ० ६, श्लोक ३१—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

'जो पुरुष एकीभावमे स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोमे आत्मरूप-से स्थित मुझ (परमात्मा) को भजता है वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मेरेमे ही बर्तता है।' यही संयोग कही स्वामी-सेवकभावका, कहीं सखाभावका, कहीं पुत्रभावका योग है। कहीं सर्वत्र आत्मभावसे परमात्मप्राप्तिरूप संयोग भी योग है। जैसे—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ (गीता ६।२९)

'योगसे युक्त, सर्वत्र समदर्शी पुरुष आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें अनन्यरूपसे स्थित देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।' कहीं अत्यन्त सुखकी प्राप्ति अर्थात् नित्य शाश्वत, अखण्ड सुखका संयोग भी योग है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ (गीता ६। २७-२८)

'जिसका मन अच्छी तरह शान्त है और जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभूत हुए योगीको अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। और वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्मप्राप्तिरूप अनन्त आनन्दको अनुभव करता है।'

—इत्यादि प्रमाणोंसे 'योग' शब्दसे ईश्वरप्राप्ति या मिलन किसी भी रूपमें समझ लें तो 'योग' शब्दकी परिभाषा ठीक समझमें आ जाती है।

योगदर्शनके अनुसार भी 'योग' शब्दका लक्ष्यार्थ देखिये—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'—तब द्रष्टाकी स्वरूपस्थिति भी होती है।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (योग० १।२९)

उससे स्वरूपज्ञान और विघ्नोंका नाश होता है।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः। (२।२८)

योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिका क्षय होनेपर आत्म-ज्ञानतक ज्ञानकी दीप्ति होती है ।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् । (३ । ५५)

बुद्धि और पुरुषकी शुद्धिकी समता होनेपर अर्थात् स्वच्छता होनेपर कैवल्यावस्था होती है ।

अतएव 'योग' शब्दके सरलार्थ और लक्ष्यार्थमें भेद नहीं रहता । इस दृष्टिको सामने रखकर जब हम पूर्वोक्त परिभाषाका विचार करेंगे तो पता लगेगा कि योग अर्थात् परमात्माका संयोग ही सब दुःखोंके संयोगका अभाव करनेवाला है ।

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमात्माकी प्राप्ति दोनों ही अन्योन्य सम्बन्ध रखनेवाली है । इसलिये इसको योग कहा है । चित्तवृत्तिनिरोध अर्थात् चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध होनेसे शान्तरूप, आनन्दरूप, ज्ञानरूप परमात्माका संयोग होता है; चित्तमें जबतक विजातीय वृत्तिका प्रवाह होता है और जबतक किसी भी प्रकारकी वृत्ति रहती है तबतक स्वरूपमें स्थिति नहीं होती । यहाँतक कहा है कि—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः । (१ । ५१)

उस साधनवृत्तिका भी निरोध होनेपर अर्थात् सब वृत्तियों-का निरोध होनेपर निर्बीज समाधि अर्थात् कैवल्यस्थिति होती है ।

गीतामें दिखलाया है—

सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥(६।२४-२५)

'सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्णतासे त्यागकर मनके द्वारा सब इन्द्रियोको सब ओरसे अच्छी प्रकार वशमे करके शनैः-शनैः (अभ्यास करता हुआ) उपरामताको प्राप्त हो और धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामे स्थिर करके कुछ भी चिन्तन न करे ।'

न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ (६ । २)

'सङ्कल्पोको न त्यागनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ।' 'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते'—उस योगमे आरूढ़ हुए पुरुषके लिये सर्व सङ्कल्पोका अभाव ही कल्याणमे हेतु है ।

सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ (६ । ४)

'सर्व सङ्कल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहलाता है ।' और भगवान् श्रीकृष्णने यह भी कहा है कि चित्तवृत्तिके निरोधके बिना योगकी प्राप्ति नही हो सकती । जैसे—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ (६ । ३६)

'मनको वशमे न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है ।' इन्ही सब हेतुओको लेकर योगका लक्षण चित्तवृत्तियोका निरोध कहा है ।

योगशास्त्रमे वृत्तिके पॉच भेद कहे हैं—

'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः'। (योग० १।५) क्लिष्ट-अक्लिष्ट भेदवाली पॉच प्रकारकी वृत्तियॉ होती हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। ये पॉचो वृत्तियाँ क्लिष्ट भी होती है और अक्लिष्ट भी।

प्रमाण—योगशास्त्रमे तीन प्रकारके माने गये है—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम (शास्त्र)। जब चित्तवृत्ति सांसारिक विपयोको प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शास्त्रजन्य प्रमाणोद्वारा अपना विपय करती है तब इस चित्तवृत्तिको क्लिष्टप्रमाणवृत्ति कहा है और जब चित्तवृत्ति पारमार्थिक—कल्याणसम्बन्धी विपयोका प्रत्यक्ष, अनुमान या शास्त्रजन्य प्रमाणोद्वारा चिन्तन करती है तब उस वृत्तिको अक्लिष्टप्रमाणवृत्ति कहा है; क्योकि यह कल्याणमे सहायक है।

विपर्यय—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। (योगदर्शन १।८)

विपर्यय मिथ्याज्ञानको कहते हैं, जो उसके रूपमे प्रतिष्ठित नहीं है—जैसे रज्जुमे सर्प, सीपमे रजत और स्थाणुमे मनुष्यका ज्ञान विपर्ययज्ञान है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३।१४।१)

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति' (गीता ७।७)

—इत्यादि श्रुति-स्मृति-वचनोसे जब एक ईश्वरके सिवा कुछ भी नही है, जो कुछ भासता है और जिसको भासता है वह सब कुछ ईश्वर ही है, तब ऐसी अवस्थामे ईश्वरमय चराचरके स्थानमे अन्य मायिक पदार्थोकी सत्य भावनाकी जो वृत्ति है वह क्लिष्ट-विपर्ययवृत्ति है। और जब किसी एक स्थानमे, एक देशमात्रमे

ईश्वरभावनासे जो उपासना है और अन्यत्र ईश्वरबुद्धि नहीं है, यह यद्यपि विपर्ययवृत्ति है तथापि अक्लिष्टविपर्यय है। कालान्तरमें एक-देशीय ईश्वरभावना सर्वदेशीय ईश्वरभावमें परिणत हो जायगी। इसलिये यह अक्लिष्टविपर्यय है।

विकल्प—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (योग० १। ९)—शब्दज्ञानके अनुसार होनेवाली वृत्ति जिसमें वस्तु कोई नहीं है, उसका नाम विकल्प है। समीपमें प्रत्यक्ष वस्तु नहीं है, पर शब्दो-को सुनकर उससे मनःकल्पित वस्तुका ज्ञान जिस वृत्तिसे होता है उसको विकल्पवृत्ति कहते हैं—जैसे मनोराज्य। यह वृत्ति जब सांसारिक स्त्री-पुत्रादि पदार्थोंको विषय करती है तब क्लिष्टविकल्प-वृत्ति कहलाती है। और जब ईश्वरके स्वरूपको, चाहे वह साकार हो या निराकार, वेद या शास्त्रोंके शब्दोंके आधारसे मनमें भावना-द्वारा अनुभव किया जाता है तब उस वृत्तिको अक्लिष्टविकल्पवृत्ति कहते हैं।

निद्रा—सांसारिक विषयोंका चिन्तन करते-करते जब निद्रा आ जाती है तब उसको क्लिष्टनिद्रावृत्ति कहते हैं और जब ईश्वरका ध्यान करते-करते अथवा योगाभ्यासमें निद्रा आ जाती है तब वह अक्लिष्टनिद्रावृत्ति है।

स्मृति—जब चित्तवृत्ति सांसारिक अतीत विषयोंका चिन्तन करती है तब वह क्लिष्टस्मृतिवृत्ति है और जब भगवद्विषयको स्मरण करती है तब वही वृत्ति अक्लिष्टस्मृतिवृत्ति है। इस प्रकार चित्तवृत्ति क्लिष्ट-अक्लिष्टके भेदसे पाँच प्रकारकी वर्णित हुई।

योगकी प्राप्तिमे योगशास्त्रानुसार आठ सोपान वर्णन किये गये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

योग वास्तवमे निर्बीज समाधिको ही कहते है, और सब अङ्ग उस चरम पदको प्राप्त करनेके साधन है।

यम-नियमके, योगी याज्ञवल्क्यके मतानुसार, दस-दस भेद किये गये है। पर पतञ्जलि ऋषिके अनुसार पॉच-पॉच भेद है। अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान नियम हैं।

आसन—सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि भेदसे चौरासी आसन कहे गये है। जिसको जो आसन अनुकूल हो उसी आसनसे वह अभ्यास करे।

प्राणायाम—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। (योगदर्शन २। ५०)

यहीसे खास योगसाधनका कार्य आरम्भ होता है—इस विषयको लेखके द्वारा पूरा समझाना कठिन है। पर संक्षेपमे कुछ समझानेकी कोशिश की जाती है। जो सज्जन इस विषयको अभिज्ञ योगीद्वारा समझकर प्राणायामका अभ्यास करते हो वे सुगमतासे समझ सकेंगे। 'प्राणायाम' शब्दका अर्थ है—'प्राणस्य आयामो गति-रोधः' इति। प्राण प्राणवायु या श्वास-प्रश्वासको कहते हैं, उसकी गतिको रोकना, उसका नियमन करना प्राणायाम है। कहा है—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। (२।४९)

'आसन सिद्ध होनेपर श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेका नाम प्राणायाम है।' गतिको रोकनेका विधान साधनपादके पचासवें सूत्रमे कहा है।

प्राणायामके चार अङ्ग है—पूरक, रेचक, आन्तर कुम्भक और बाह्य कुम्भक। वायु बाहरसे खीचने अर्थात् श्वास लेनेका नाम पूरक है। वायु त्यागना अर्थात् प्रश्वासका नाम रेचक है। वायुको भीतर खीचकर रोकनेका नाम आन्तर कुम्भक है। वायुको बाहर त्यागकर श्वास न लेने अर्थात् ठहरनेको बाह्य कुम्भक कहा जाता है। मूल सूत्रमे 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्ति' वाला प्राणायाम कहा है। यहॉपर 'बाह्य' शब्दसे रेचक, 'आभ्यन्तर' शब्दसे पूरक और 'स्तम्भ' शब्दसे कुम्भकका अभिप्राय है। इस प्रकारका प्राणायाम देश, काल, संख्याके अनुसार दीर्घ और सूक्ष्म होता है। यहॉ देशसे अभिप्राय यह है कि श्वासके लेने और त्यागनेमे श्वास जितना लंबा भीतर जाय उतना ही लंबा बाहर जाय। इस दीर्घताको देश कहते है। अभ्याससे श्वासकी दीर्घता क्रमसे बढती है। कालसे यहॉ यह उद्देश्य है कि पूरकमे जितना समय लगे उससे चतुर्गुण समयतक कुम्भक करना चाहिये। फिर रेचकके लिये पूरकसे द्विगुण समय लगाना चाहिये, अर्थात् यदि १५ सेकंड पूरकमे लगे तो ६० सेकंड कुम्भक और ३० सेकंड रेचकमें लगाना चाहिये। इस प्रकारसे १०५ सेकंडमे एक प्राणायाम हुआ। यह १०५ सेकंड प्राणायामके लिये कोई निर्दिष्ट काल नहीं है। नियमको समझानेके लिये उदाहरणसे समयका विभाग दिखाया गया है। प्रारम्भिक अभ्यासमे १५ सेकंडसे कममें

भी पूरकका अभ्यास आरम्भ किया जा सकता है और अभ्यासके बाद १५ सेकंडसे अधिक समय पूरकमें लग जाता है। पर विधि यह है कि पूरकसे चौगुना कुम्भकका और दुगुना रेचकका काल होना चाहिये। 'संख्या' शब्दसे यहाँ यह अभिप्राय है कि पूरकमें जितनी संख्या नामजपकी हो उससे चतुर्गुण संख्या नामजपकी कुम्भकमे होनी चाहिये और द्विगुण संख्या रेचकमे। उदाहरणतः यदि सोलह प्रणवमन्त्रसे पूरक हो तो चौसठ प्रणवमन्त्रसे कुम्भक और बत्तीस प्रणवमन्त्रसे रेचक होना चाहिये। प्राणायामके अभ्यासीको यह ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि देश-काल-संख्याका उपर्युक्त नियम ठीक रखते हुए प्राणायामका अभ्यास करे। सब प्राणायाम एक समान होने चाहिये, अर्थात् यदि प्रतिदिन पचास प्राणायामका अभ्यास कोई करता हो तो सभी प्राणायाम समान होने चाहिये। कोई भी प्राणायाम छोटे-बडे, अल्प-अधिक काल या संख्याके न हो। प्राणायाम प्रारम्भमे सूक्ष्म होते है, आगे चलकर दीर्घ हो जाते हैं। नियमानुसार प्राणायाम करनेसे क्रमशः श्वास-प्रश्वासके रोकनेकी शक्ति बढती है। पारमार्थिक लाभके अतिरिक्त स्वास्थ्यसम्बन्धी लाभ भी अनेक प्रकारका इससे होता है।

योगाभ्यासी जन कुम्भकके दो भेद मानते है और दोनो ही करनेयोग्य है। एक बाह्य कुम्भक, दूसरा आभ्यन्तर कुम्भक। जिस प्रकार आन्तर कुम्भककी विधि ऊपर वर्णन की गयी है उसी प्रकार और उन्हीं नियमोके अनुसार काल और संख्याका ध्यान रखते हुए बाह्य कुम्भक भी किया जा सकता है। अवश्य प्रारम्भमें

इसके अभ्यासमे कुछ कठिनता मालूम होती है, पर प्राणायामका कुछ अभ्यास हो जानेके बाद बाह्य कुम्भकको भी साथमे जोड़ सकते है। यह बाह्य कुम्भक रेचकके बाद किया जाता है और इसके बाद फिर पूरक आरम्भ हो जाता है अर्थात् प्राणायामका इस प्रकार एक चक्र बन जाता है। पूरक, फिर आन्तर कुम्भक, फिर रेचक, फिर बाह्य कुम्भक, फिर पूरक, क्रमशः इसी प्रकार चक्रवत् चलता रहता है। अनियमित प्राणायामके अभ्याससे लाभ नही होता और हानिकी भी सम्भावना है। पातञ्जल योगदर्शनमे चतुर्थ प्राणायामके नामसे एक और प्राणायामका वर्णन किया गया है।

'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः' (योग० २। ५१)—अर्थात् बाह्य, आभ्यन्तर आदि विषयोके नियमका उल्लंघन करके एक चौथा प्राणायाम होता है। यहाँ मनके निरोधसे प्राणोका निरोध है। प्राणायाम-के और भी अनेक प्रकार है, जिनका वर्णन विस्तारभयसे नही किया जाता। प्राणायाममे वायु खीचनेकी और त्यागनेकी विधि साधारण श्वास-प्रश्वासकी विधिसे कुछ भिन्न है और नाक दबाकर रोकना भी युक्त विधि नही है। बन्धद्वारा वायुको रोकना चाहिये। यह सब क्रिया समझनेकी है, लिखकर प्रकट करना कठिन है।

बहुत-से सज्जन योगकी महिमाको देखकर योगाभ्यासी बनना चाहते है और योगसाधनके प्रथम सोपान प्राणायामसे आरम्भ करते है। उसका परिणाम, मेरा जहाँतक अनुभव है, यही होता है कि थोड़े काल बाद वे लोग अभ्यास छोड़ देते है और साधनसे उनकी रुचि हट जाती है। इसका कारण मेरी समझसे यही है

कि जो लोग यम, नियम और आसनके अभ्यासको अच्छी प्रकार किये बिना ही प्राणायामकी तरफ दौडते हैं उन्हें प्राणायाममें सफलता मिलनी कठिन है। क्योंकि जिसका आसन सिद्ध नहीं हुआ वह प्राणायामके लिये बैठनेपर चञ्चल ही रहेगा, स्थिर होकर सुख-शान्तिसे अभ्यास नहीं कर सकेगा। और जिन्होंने यम-नियमका साधन नहीं किया उनका चित्त सांसारिक विषयोंमें विक्षिप्त रहेगा। सांसारिक चिन्तन और काम, क्रोध, लोभादिसे जो विक्षिप्तचित्त है वह प्राणायामकालमे देश, काल, संख्याके नियमोको ठीक लक्ष्यमे रखकर तन्मय होकर अभ्यास नहीं कर सकता, यह स्पष्ट है। अभ्यासकालमे विजातीय किसी प्रकारका चिन्तन आनेके साथ ही देश, काल, संख्याका नियम गड़बड़ हो जाता है। और भी कारण हैं, ऊपर कुछ एकका दिग्दर्शन करा दिया गया है। आहार, विहार, शयन आदिके नियमनकी भी आवश्यकता रहती है। प्राणायामके बाद प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिका विषय आता है। ये सब विषय गहन है, लिखनेसे विस्तार अधिक हो जाता है। इसलिये लेख यहीं समाप्त किया जाता है। जो कुछ लेखमे त्रुटि हो उसे पाठकगण क्षमा करे।

नाममहिमातत्त्व

मरुभूमिसदृश शुष्क हृदयमे आनन्दरसकी लहरें उत्पन्न करनेके लिये, घोर अन्धकाराच्छन्न हृदयाकाशमे प्रकाशका प्रादुर्भाव करनेके लिये, पापपङ्कमे पड़े हुए जीवोंको उससे बाहर निकालनेके लिये, विषयभोगोमे आसक्त चञ्चल चित्तमे अटल शान्ति स्थापन करनेके लिये, घोर नरकोमे प्रबल वेगसे जाते हुए जीवकी गतिको रोककर उसे कल्याणके पावन पथपर चलानेके लिये और त्रिविध तापोसे संतप्त प्राणियोको सुखमय शीतलताके स्थानतक पहुँचानेके लिये यदि कोई परम साधन है तो वह एक श्रीभगवन्नाम ही है। शास्त्रोसे, साधु महात्माओके वचनोसे, युक्तियोसे और व्यावहारिक दृष्टिसे भी नाममहिमा प्रसिद्ध है। संसारकी सभी जातियोमे किसी-न-किसी रूपमें नामका आदर पाया जाता है। शब्दोकी भिन्नता है, भाव एक ही है। यद्यपि संसारमे कुछ ऐसे मनुष्य भी है जो नाममहिमा स्वीकार नहीं करते, परन्तु इससे नाममहिमामे कुछ भी कमी नही होती। हीरा आदि रत्नोकी पहचान और उनकी कीमत बहुत-से लोगोको नहीं होती, इससे उनकी कीमत कही चली नही जाती। इसी प्रकार नामकी शक्ति अनादि कालसे अप्रतिहत है, स्वप्रकाश है और यह सर्वदा ऐसी ही बनी रहेगी।

स्मृतिशास्त्रोंमे कहा है—

नाम्नो हि यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी नरः॥

'भगवान्‌के नाममे जितने पापोके नाश करनेकी शक्ति है उतने पाप अति पापी मनुष्य भी करनेमे समर्थ नही है।'

जव भगवत्कृपासे नामजपका भलीभाँति साधन होता है तव अनायास ही अन्तःस्थित ब्रह्म प्रकट होकर जापकको अपने अनुभवसे कृतकृत्य कर देता है।

इससे यह सिद्ध हो गया कि नामजपसे ही ब्रह्म प्रकट होता है! अतएव एक तो भगवन्नाम इसलिये लेना चाहिये कि इससे परमानन्दस्वरूप ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। दूसरे—

एक दारुगत देखिय एकू। पावक जुग सम ब्रह्म विवेकू॥
(रामा० वाल०)

ब्रह्मका विचार दो तरहका है। एक तो अग्नि लकड़ीमे व्यापक रहती है और एक प्रत्यक्ष देखनेमे आती है। जिस काष्ठमे अग्नि तिरोहितरूपसे व्याप्त है उसमें दाहकादि गुणोका आविर्भाव न होनेसे उससे दहनकार्य नहीं हो सकता; परन्तु जिसमें वह प्रकट है, उससे होता है। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु अव्यक्त होनेसे उसके स्पर्शजन्य सुखकी प्राप्ति नही हो सकती। परन्तु वही ब्रह्म शब्दरूपसे प्रत्यक्ष अग्निकी तरह संसारमें व्यक्त हो रहा है। कोई भी सौभाग्यवान् पुरुप उसे भलीभाँति स्पर्श करके अपने अपार पापोको क्षणभरमे भस्म कर सकता है!

भगवन्नाम ही वह 'शब्दब्रह्म' है, उसके जीभपर आते ही मानो जिह्वाद्वारा साक्षात् ब्रह्मका स्पर्श होता है और उससे

पापोका नाश होकर मुमुक्षुको शीघ्र ही परमपदकी प्राप्तिका सौभाग्य मिल जाता है।

बिजली सब जगह है, परन्तु जिस एक स्थानविशेषमे उसकी शक्तिका संग्रह किया गया है वहीसे टेलीग्राम, टेलीफोनके तारोका व्यवहार बन सकता है। इसी तरह नामजप ब्रह्मके साथ ब्रह्मकी शक्तिरूपा विद्युत्के द्वारा तारका जोडना है।

एक सुन्दर तालाबमे निर्मल जल भरा हुआ है, परन्तु उसके घाट नही है तो सबके लिये उसमे स्नान करना या उसका जल-पान करना बड़ा कठिन है। यदि घाट बँधवा दिया जाय तो उससे छोटे-बड़े, बालक, स्त्री सभी स्नान-पानादिका लाभ उठा सकते हैं। इसी प्रकार आनन्दरूप निर्मल ब्रह्मसरोवरका घाट है 'भगवन्नाम'। बड़ा सुलभ, सुहावना और पक्का है। सभी कोई इस घाटके द्वारा ब्रह्मसरोवरमे प्रवेश कर सकते है!

नाम एक ऐसा मजबूत जहाज है जिसपर चढ़कर जीव अनायास ही भवसमुद्रके उस पार पहुँच सकता है। नाम इसी-लिये लेना चाहिये और यही नामसे होनेवाला लाभ है।

ब्रह्मके अनन्त नाम है, परन्तु—

—राम सकल नामनतें अधिका।

श्रीराम-नाम सबसे उत्कृष्ट है, क्योकि वेदमूल प्रणवका भी यह कारण है—'कारणं प्रणवस्य च।' दूसरे इस श्रीरामनाममे 'र', 'अ' 'म' ये तीन अक्षर है। 'र' कार अग्निस्वरूप, 'अ' कार सूर्यस्वरूप और 'म' कार चन्द्रस्वरूप है। अग्निस्वरूप 'र' कार

पापोंको भस्म कर देता है और उससे वेदोक्त कर्मयोग सिद्ध होता है। सूर्यरूप 'अ' कारसे हृदयमें आप ही आप प्रकाश होता है और उससे ज्ञानयोग सिद्ध होता है। तथा चन्द्ररूप 'म' कारसे हृदयमें चन्द्रतुल्य शीतल अग्निका उदय होता है और उससे भक्तियोग सिद्ध होता है*। इस प्रकार एक रामनामसे ही तीनों योगोंकी एक साथ सिद्धि होती है और बिना किसी अन्य साधनके केवल इसीसे ही साधकको दुर्लभ परमपदकी प्राप्ति भी अत्यन्त सुलभतासे हो जाती है। श्रीगोस्वामीजीके वचन हैं—

बंदउँ रामनाम रघुबरको। हेतु कृसानु भानु हिमकरको॥

(रामा० बाल०)

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव॥

(विष्णु० ६।८।१९)

'जैसे सिंहके भयसे व्याकुल होकर मृग तत्काल भाग जाते हैं, इसी प्रकार पापी पुरुष यदि अवश होकर भी नामकीर्तन करता है तो उससे वह तत्काल पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

यदि कोई श्रद्धालु आस्तिक पुरुष प्रेमसे नामका अभ्यास करता हुआ उसकी महिमापर विचार करे तो उसके हृदयमें यह बात निःसंशय सिद्ध हो जाती है कि नाममहिमाका जितना शास्त्रोंमें वर्णन है और जितना श्रेष्ठ पुरुषोंका कथन है वह सब

---

* अग्नि 'र' से पापरूपी प्रतिबन्धकोंका जलना, सूर्यरूप 'अ' से मोहरूप तमका नाश होकर ज्ञानका उदय होना तथा चन्द्ररूप 'म' से त्रितापका नाश होकर शीतल अमृतत्व—मोक्षकी प्राप्ति होना भी समझा जा सकता है। अर्थात् रामनामसे पापनाश, ज्ञानोदय और मुक्ति तीनों काम हो सकते हैं—सम्पादक

बहुत ही थोड़ा है। अपार, असीम नाममहिमार्णवकी सीमा बतलाने-मे न तो लेखनी समर्थ है और न वाणी ही ! ग्रन्थोका वर्णन और श्रेष्ठ पुरुषोका कथन तो केवल नामप्रेमियोके कृतज्ञताभिभूत हृदयो-का उच्छ्वासमात्र है। समुद्रमेसे उतना ही जल लिया जा सकता है जितना बडा अपने पास बर्तन होता है। सारे समुद्रजलका ग्रहण असम्भव है। इसी प्रकार नाममाहात्म्यका भी विशेष उल्लेख या वर्णन सर्वथा असम्भव है। कोई यदि नाममाहात्म्य वर्णन करने-का अभिमान करता है तो वह उसके लिये केवल उपहासका विषय ही होता है। एक भक्तने कहा है—

तत्त्वेन यस्य महिमार्णवशीकराणुः
शक्यो न मातुमपि शर्वपितामहाद्यैः।
कर्तुं तदीयमहिमस्तुतिमुद्यताय
मह्यं नमोऽस्तु कवये निरपत्रपाय॥

(श्रीयामुनमुनेरालवन्दारस्तोत्रात्)

'जिस नाममहिमारूप समुद्रके अति सूक्ष्म जलकणका यथार्थ परिमाण शिव, ब्रह्मादि नहीं बतला सकते, उसे बतानेके लिये यदि मुझ-जैसा कोई साहस करे तो ऐसे निर्लज्ज कविको नमस्कार है !' मतलब यह कि रुद्रादि देव भी जिसके वर्णनमे असमर्थ है उसका वर्णन हम कैसे कर सकते है ?

जब भगवद्भक्तोकी यह दशा है तब मुझ-जैसे अल्पज्ञका तो इस विषयमे कुछ कहना ही कैसे बन सकता है ? परन्तु कहने और सुननेवाले जो कुछ कहते या सुनते है सो सब उस नामकी कृपासे ही होता है, ऐसा समझना चाहिये। नामकी असीम सामर्थ्य है। नाम छोटा हो या बड़ा, वह नामीको आकर्षण करता ही है—

मंत्र परम लघु जासु वस, विधि हरि हर सुर सर्व ।
महामत्त गजराज कहँ, वस कर अंकुस खर्व ॥

नामके बलसे नामीकी प्राप्ति बलात्कारसे हो जाती है। गोस्वामीजी कहते हैं—

देखिअ रूप नाम आधीना। रूपग्यान नहिं नामविहीना ॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदयँ सनेह बिसेषे ॥

(रामा० बाल०)

इधर जैसे नाम नामीका आकर्षण करता है उधर वैसे ही वह नामाश्रयीको भी नामीके चरणोंमें ले जाता है। 'नाम' शब्दके अर्थसे भी यही बात स्पष्ट होती है—'बलान्नमयतीति नाम' अर्थात् जो बलपूर्वक नामाश्रयीके चित्तको नामीके चरणोंमें नमन कराता है वह 'नाम' है। अतएव नामी और नामाश्रयीके बीचमें 'नाम' चतुर मध्यस्थका काम करता है। गोस्वामीजीने इस बातको स्पष्ट कर दिया है—

उभयप्रबोधक चतुर दुभाषी ॥ (रामा० बाल०)

नामाश्रयीकी कभी दुर्गति नहीं होती। नामाश्रयी नाममहिमाको यथार्थ जानकर नामीकी खुशामद भी नहीं करता। गोसाईंजीकी भाँति वह दृढतासे कह सकता है—

नाहिन नरक परत मो कहँ डर, जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दास तुलसी प्रभु, नामहुँ पाप न जारो ॥

(विनयपत्रिका)

नामके सम्बन्धमें यह अक्षरशः सत्य उक्ति है—

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य ।

विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम ॥

(श्रीईश्वरपुरेः)

नामाश्रयी भक्तोको सम्बोधनकर कवि आशीर्वाद देते हुए कहते है कि 'कल्याणका भण्डार, कलियुगके पापोका नाशक, पवित्रोको भी पवित्र करनेवाला, कल्याणपथके पथिक मुमुक्षुओका पाथेय, कवियोकी वाणीका एकमात्र विश्रामस्थान (महिमाकी अनन्तताको देखकर जहाँ कवियोकी वाणी रुक जाती है), सज्जनो-का जीवन और धर्मवृक्षका वीजरूप रामनाम आपलोगोकी उन्नति करे।'

यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि वास्तवमे नाम-महिमाकी अनुभूति अभ्याससे ही प्रत्यक्ष हो सकती है। जिनका शास्त्रोमे विश्वास है उनके लिये वेदोसे लेकर समस्त शास्त्रोमे नाम-महिमा प्रसिद्ध है—

ओमित्येतद् ब्रह्म।

ॐ ही साक्षात् ब्रह्म है।

तस्य वाचकः प्रणवः। (योगदर्शन १। २७)

उस परमात्माका नाम प्रणव (ॐ) है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

(कठ० १। २। १५)

समस्त वेद जिस पदको प्राप्त करने योग्य बतलाते हैं, जिसकी प्राप्तिके लिये ही तप किये जाते है, जिसके लिये गुरुगृह-

मे रहकर इन्द्रियसंयमादिका आचरण किया जाता है, उसी पदको मै तुमसे कहता हूँ, वह 'ॐ' ही है।

नन्दनन्दन श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८।१३)

इन शास्त्रवचनोके सिवा महात्मा पुरुषोके वचनोंसे नाम-महिमा सिद्ध है। प्राचीन तथा आधुनिक कालमे जितने महात्मा हो गये है एवं वर्तमानमे भी जितने महात्मा है, उन सबने मुक्त-कण्ठ होकर एक स्वरसे नामसे लाभ होना स्वीकार किया है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

सुमिरु सनेहसों तू नाम रामरायको।
संबल निसंबलको, सखा असहायको॥
भाग है अभागेहूको, गुन गुनहीनको,
गाहक गरीबको, दयालु दानि दीनको।
कुल अकुलीनको सुन्यो है, वेद साखि है,
पाँगुरेको हाथ-पाय, आँधरेको आँखि है॥१॥
माय-बाप भूखेको, अधार निराधारको,
सेतु भवसागरको, हेतु सुखसारको।
पतितपावन रामनाम सो न दूसरो,
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो॥

(विनयपत्रिका)

परमहंस स्वामी रामकृष्णजीका कथन है कि 'नामका अवलम्बन करनेवाले पुरुष संसारमे बर्तते हुए भी कल्याणमार्गसे

नहीं गिरते । जैसे बालक किसी खूँटे या रस्सीको पकड़कर चारों ओर खूब चक्कर लगाते है; पर जबतक उसे पकड़े रहते हैं तबतक गिरते नही, छोड़ते ही गिर पड़ते है । इसी प्रकार नामको पकड़ रखनेवाला कभी नही गिरता !' वे कहते हैं–'नामजप ही त्यागी, अत्यागी सबके लिये एक सुगम उपाय है ।' एक बार परमहंसजीने नामके सम्बन्धमें बड़े जोरकी बात कही थी, उसे हम ज्यों-की-त्यों बँगलामे लिखते है—

आमि 'दुर्गा' 'दुर्गा' बले मा यदि मरि।
आखेरे एदीने ना तारे केमने जाना जावेगो शंकरी ॥

'यदि मै तेरा नाम 'दुर्गा-दुर्गा' जपता हुआ मरूँ तो हे शङ्करी ! अन्तमें तू मुझे कैसे नही तारती है सो जाना जायगा ।' कितना दृढ़ विश्वास है !

नाममे सबका समान अधिकार है; स्त्री हो या पुरुष, ब्राह्मण हो या चाण्डाल, ब्रह्मचारी हो या संन्यासी, योगी हो या भोगी और राजा हो या रंक, सभीके लिये सभी अवस्थाओमे नाम-जैसा सहायक और कोई नही हैं ! (देखो गीता अ० ९ श्लोक ३०–३२)

अतएव मनुष्यमात्रका यह कर्तव्य है कि भूलसे भी नामका त्याग न करे । भगवान् कहते है–'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥' इस सुखरहित क्षणभंगुर शरीरको पाकर तू निरन्तर मेरा ही भजन कर। अर्थात् मनुष्यशरीर बड़ा दुर्लभ है, परन्तु है नाशवान् और सुखरहित । इसलिये कालका भरोसा छोड़कर अज्ञानसे सुखरूप भासनेवाले विषयभोगोमे न फँसकर निरन्तर भगवान्का ही भजन करना चाहिये !

लिफाफेपर नाम करके उसे लेटरबक्समें डाल दिया जाता है; वह लिफाफा उस बक्सरूपी कारागारसे पोष्ट आफिसके कई कारागारोंमे थैलोमें बंद हुआ, रेल, जहाज आदिकी यात्रा करता हुआ, अनेक दुःख तथा आघातोंको सहता हुआ, देश-देशान्तरोंमे घूम-फिरकर, अन्तमे अपने हृदयपर नाम धारण किये रहनेके कारण उस अपरिचित नामीके समीप पोष्टमैन (डाकिये) के द्वारा आपसे आप पहुँच जाता है । इसी प्रकार जो जीव अपने हृदयपर दृढताके साथ प्रभुके नामको धारण करके उसके चरणोंमे जाना चाहता है—संसारमे नाना प्रकारकी यातनाओंको सहता हुआ भी अपने प्रभुके नामका कभी त्याग नहीं करता, परन्तु करुणाभावसे सदा यही कहता है कि 'हे स्वामिन् ! मै न तो आपके रूपको यथार्थ पहचानता हूँ और न आपके वास्तविक गुण-स्वभावसे ही परिचित हूँ । आपकी आज्ञाके विपरीत भी आचरण करता हूँ । मुझमें वह बल भी नहीं है जिससे मै आपके चरणोंमे उपस्थित हो सकूँ । मार्ग भी नहीं जानता हूँ, सारांश यह है कि मै सब प्रकारसे अवलम्बनरहित हूँ । केवल एक आपके नामका आश्रय है !' वह इस प्रकारका दीनभावापन्न नामाश्रयी अपने प्रभुके चरणोंमे अत्यन्त शीघ्र और अनायास ही जा पहुँचता है । अवश्य ही इस परम आश्रय नामका कभी त्याग न होना चाहिये ! महात्मा कबीरजी कहते हैं—

रामनामके सुमिरते अधम तरे संसार ।
अजामील, गनिका, स्वपच, सदना, सवरी नार ॥
रामनामके सुमिरते उधरे पतित अनेक ।
कह कबीर, नहि छाड़िये रामनामकी टेक ॥

नामके आश्रयसे मनुष्यकी तो बात ही क्या, पशुका भी उद्धार हो सकता है। संसारासक्त स्त्री-पुत्रादिमें ममतायुक्त, वैराग्यरहित, भोगासक्त, अल्पायु, ज्ञानरहित, पापपूर्ण, निरुद्यमी, प्रमादी और सदाचाररहित जीवोंके लिये एकमात्र 'नाम' ही सुगम साधन है!

कठिन काल, मलग्रसित तनु, साधन कछुक न होय।
यह विचारि, विस्वास करि, हरि सुमिरे, बुध सोय॥
यह कलिकाल मलायतन, मन! करि देखु विचार।
श्रीरघुनायकनाम तजि नाहिन आन अधार॥

एकमात्र नाम ही जीवोंका आधार है; नाम कोई-सा भी क्यो न हो, भगवान्‌के सभी नाम समर्थ है। वास्तवमें आवश्यकता है भावकी। भाव ही प्रधान है, जितना उच्च भाव है उतना ही नाम महत्त्वका है। भाव क्या है—

(१) नाम और नामीको एक समझना (२) नामसे बढ़कर और कुछ भी न समझना (मुक्ति भी नहीं!) (३) नाममे प्रेम होना (४) निष्कामभाव होना और (५) नामजपको गुप्त रखना। यही भाव है। इन्हीं पॉच भावोंसे युक्त नामजप प्रशंसनीय है। नामजपकालमे नामीको प्रत्यक्ष देखते रहना चाहिये। जैसे 'गौ' शब्दके स्मरणमात्रसे ही उसका अर्थज्ञान आप ही हो जाता है वैसे ही भगवन्नामसे भी रूपका ज्ञान अनायास ही होना चाहिये। नामका नामीके साथ दृष्ट और अदृष्ट सम्बन्ध भी रहता है। जब शृङ्गारसंयुक्त शब्दोंके तथा स्त्रीके चिन्तनमात्रसे कामोद्दीपन होता है तब भगवन्नामसे हृदयमें भगवद्भावोंका उदय क्यो नहीं होगा?

नामजपमें सब प्रकारकी सुगमता भी है

न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा।
चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत् ॥

कुछ लोग कह दिया करते हैं कि हमे तो नाम जपते बहुत दिन हो गये, कोई लाभ नहीं हुआ। पर ऐसा कहनेवाले यदि अपने हृदयकी ओर देखे तो उन्हे पता लगेगा कि उन्होने सकामभावोंमें नामजपके फलको खो दिया है। निष्काम भजन हो तो निश्चय ही वह बहुत तेजीसे बढ़कर साधकका बहुत शीघ्र कल्याण कर देता है।

कृष्णनाम गुन गुप्त धन पावे हरिजन संत।
करे नहीं जो कामना, दिन दिन होय अनंत ॥

शीघ्र लाभ न होनेमे एक हेतु आतुरताका अभाव भी है। जैसे जलमे डूबते हुए गजराजकी और चीरहरणकालमे द्रौपदीकी आतुरता थी वैसी आतुरता हो जाय तो फिर नाम पूरा होनेके पहले ही आप नामीको अपने सम्मुख देखे।

कुछ लोग कहते है कि नामजपमे तो हमारी रुचि नहीं होती। क्या बिना नामजपके भगवान् नहीं आते? इसका उत्तर यह है कि प्रभुका सम्बन्ध एक प्रेमसे है। जहाँ प्रेम है वहाँ प्रभु है। जब प्रेमीका नाम ही हमारे लिये रुचिकर नही तब हममे कहाँ तो प्रेम है और कहाँ उस नामीके दर्शनकी आकांक्षा है? जिसकी नाममे रुचि नही है उसका नामीमे प्रेम होना क्योकर सिद्ध हो सकता है? अतएव सब प्रकारसे नामाश्रय ही कर्तव्य है।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

(नारद० १।४१।१५)

भक्तभावतत्त्व

भक्तोके भावोपर मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये कुछ लिखनेका प्रयास करना दुस्साहसमात्र है; परन्तु मित्रोके उत्साह-बलके आधारपर कुछ लिखनेकी चेष्टा करता हूँ, त्रुटियो-के लिये सहृदय पाठक-पाठिकागण क्षमा करे। भक्तोके भाव अनन्त है। उन भावोको कोई ऐसे ही भक्तजन-मानसमराल संतशिरोमणि जान सकते है जिनका हृदय निर्मल, कोमल, उदार, शान्त और प्रेममय है। नही तो क्या पाषाणमे नवनीतकी कोमलता, अग्निमे हिमकी शीतलता या नीममें मधु-सी मधुरता कभी सम्भव है? अस्तु!

भक्तोको भगवान् और भगवान्को भक्त प्राणोसे अधिक प्रिय होते है। कुछ महापुरुषोने तो भक्तोको भगवान्से बढकर बतलाया है। गोस्वामीजी कहते है—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। रामतें अधिक रामकर दासा।
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥

(रामा० उत्तर०)

किसानोको बादलोकी चाह अधिक रहती है, क्योकि उनके खेत बादलोकी कृपासे ही हरे-भरे होते है। समुद्र स्वयं उनके खेतोमें जल नहीं सींचता। इसी प्रकार चन्दनका वृक्ष स्वयं अपनी सुगन्ध दूसरे वृक्षोको देने नही जाता। सुगन्धवहनकारी वायुके द्वारा ही अन्यान्य वृक्ष सुगन्ध पाकर चन्दन बन जाते है। इस

प्रकार मेघ और वायुसे भक्तोंकी तुलना करते हुए तुलसीदासजीने भक्तोंकी प्रशंसा की है। अवश्य ही मेघमें जल और वायुमें सुगन्ध समुद्र और चन्दनके वृक्षसे ही आते हैं। इसी प्रकार भगवद्गुण-सम्पन्न भक्तजन दया, उदारता, प्रेम आदि उत्तमोत्तम गुण विश्वमें वितरण किया करते हैं। महात्मा सुन्दरदासजी कहते हैं—

साँचो उपदेस देत, भली भली सीख देत,
समता-सुबुद्धि देत, कुमति हरतु हैं।
मारग दिखाइ देत, भावहु भगति देत,
प्रेमकी प्रतीति देत, अ-भरा भरतु हैं॥
ग्यान देत, ध्यान देत, आतमविचार देत,
ब्रह्मको बताय देत, ब्रह्ममें चरतु हैं।
सुंदर कहत जग संत कछु लेत नाहीं,
संतजन निसिदिन देवो ही करतु हैं॥

(सुन्दरविलास २९।३०)

सोना खानमेंसे ही निकलता है। इसी प्रकार ये सब गुण भक्तोंको सर्वगुण-आकर भगवान्‌से ही मिलते है। भगवान्‌ने स्वयं भक्तोंकी श्रेष्ठता स्वीकार की है।

मुनि दुर्वासा भक्तराज अम्बरीषकी परीक्षाके लिये उपस्थित हैं, अकारण ही क्रोध करके वे अम्बरीष-विनाशके लिये कृत्या दानवी उत्पन्न करते है, भक्तभयहारी भगवान्‌का सुदर्शन चक्र कृत्याका काम तमाम कर दुर्वासाके पीछे दौड़ता है। प्राण बचानेके लिये दुर्वासा आश्रय खोजते हुए वन, पर्वत, सर, सरिता, समुद्र, पाताल, आकाश, स्वर्ग, ब्रह्मलोक, कैलास सभी जगह जाते हैं, दीनवचन सुनाकर आश्रय माँगते हैं; पर हरिजनद्रोहीको कहीं आश्रय नहीं मिलता, अन्तमे दुर्वासा दौड़कर वैकुण्ठमे भगवान्

कमलापतिके चरणकमलोमे उपस्थित हो गिड़गिड़ाते हुए रक्षा-प्रार्थना करते है। उत्तरमे भगवान् कहते है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम्॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३, ६६–६८)

'हे ब्राह्मण! भक्तजन मुझे अत्यन्त प्रिय है, मेरे हृदयपर उनका पूर्ण अधिकार है; मै भक्तोके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नही। जिनका हृदय मुझमे संलग्न है वे समदर्शी भक्त अपनी भक्तिसे मुझे वैसे ही वशमे कर लेते है जैसे पतिव्रता स्त्री अपने सज्जन स्वामी-को। मेरी सेवा करनेसे उन्हे चार प्रकारकी मुक्ति भी मिलती है; परन्तु वे मेरी सेवा ही चाहते है, उसीमें उनकी इच्छा पूर्ण रहती है। वे कालसे नष्ट होनेवाले स्वर्गादि लोकोंकी तो बात ही क्या, मुक्ति भी नही चाहते। ऐसे साधुजन मेरे हृदय है और मै उन साधुओका हृदय हूँ, वे लोग मेरे सिवा अन्य किसीको नहीं जानते और मै उनके सिवा किसीको नही जानता।'

अतएव हे ऋषि! तुम अपनी रक्षा चाहते हो तो—

ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति॥

(श्रीमद्भा० ९।४।७१)

—ब्रह्मन् ! तुम नाभागपुत्र राजा अम्बरीपके पास जाओ, तुम्हारा भला होगा। वहाँ जाकर तुम महाभाग अम्बरीपसे अपने अपराधके लिये क्षमा माँगो, तब तुम्हे शान्ति मिलेगी !

सारांश यह कि भगवान् भक्ताधीन है, भक्तोंके प्रेमसे वे उनके हाथ बिक जाते है। भक्तोंके कारण भगवान् अनन्त होनेपर भी अन्तवाले-से बनकर माता कौसल्या और यशोदाकी गोदमें खेलते है—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन, निरगुन बिगतबिनोद।
सोइ अज प्रेम भगति बस कौसल्याकी गोद॥ (रामा० बाल०)

अखिलब्रह्माण्डके जीवोंको उनके कर्मानुसार मायारज्जुमें बॉधनेवाले भगवान् स्वयं जननी यशोदाके द्वारा छोटी-सी रस्सीमे ऊखलसे बँध जाते है, अजेय होनेपर भी खेलमे ग्वाल-बालकोंसे हार मानते है, विश्वम्भर होनेपर भी भक्तोंके चावल, बेर और केलेके छिलकोंके लिये भूखे भटकते है, अखिलभुवनपति होकर भी बलिके द्वारपर भिक्षुक और द्वारपाल बन जाते है, जगत्पिता होनेपर भी पुत्र बनकर भाग्यवान् दशरथ, नन्द और वसुदेवजीकी सेवा करते है, अभय होते हुए भी माता यशोदाकी यष्टिकासे डर जाते है, नित्यमुक्त होते हुए भी बद्ध-से बन जाते है, राजराजेश्वर होनेपर भी अर्जुनके रथके घोडे हॉकते है और जगदीश्वर होनेपर भी दास बन जाते है। भक्तोंका प्रेम-प्रभाव कहॉतक कहा जाय? जो कल्याणगुणाश्रय, असीम ज्ञानानन्दैकस्वरूप, निरवधिक वात्सल्यजलधि, अनन्त गुणनिधि, अवाङ्मनसगोचर, वेदान्तवेद्य, सौकुमार्य, लावण्य, माधुर्य, कारुण्य, औदार्य आदि गुणयुक्त श्रीपति

भगवान्‌को अपने वशमे करके सब कुछ करवा लेते है, उन भक्तों-को बारंबार नमस्कार है !

भक्तनकी महिमा अमित, पार न पावे कोय ।
जहाँ भक्त-जन पग धरे, असदृश तीरथ सोय ॥
भक्त संग छाड़ौ नही, सदा रहौं तिन पास ।
जहाँ न आदर भक्तको, तहाँ न मेरो वास ॥
फिरत धाम बैकुंठ तजि, भक्त जननके काज ।
जो जो जन मन चाहहीं, धारत सो तन साज ॥
ज्यों विहंग वस पींजरे रहत सदा आधीन ।
त्यों ही भक्ताधीन प्रभु निज जन हित तन लीन ॥

जो भक्तजन भगवान्‌को इस प्रकार वशमें कर लेते है उनके हृदयोच्छ्वासके कुछ नमूने देखिये । ब्रह्माजी कहते है—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३४)

'इस भूमिमे, खासकर वृन्दावन और उसमे भी गोकुलमे जन्म होना परम सौभाग्य है । क्योकि गोकुलमे जन्म होनेसे किसी-न-किसी गोकुलवासीके चरणोकी पवित्र रज सिरपर पड़ ही जायगी ।'

भीष्मपितामह कहते है—

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥

(श्रीमद्भा० १ । ९ । ३३)

'त्रिभुवनसुन्दर तमालतरुसदृश श्यामशरीर और सूर्यकिरण-सदृश गौरवर्ण सुन्दर वस्त्र धारण किये और अलकावलीसे छाये हुए सुशोभित मुखकमलवाले अर्जुनसखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्काम भक्ति हो ।'

प्रह्लाद कहते हैं—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ॥

(विष्णु० १ । २० । १८)

हे नाथ ! मै अपने कर्मानुसार अनन्त योनियोमेंसे जिस-जिसमे जन्म ग्रहण करूँ, उसीमे आपके श्रीचरणोमें मेरी अटल भक्ति बनी रहे ।

सुतीक्ष्णजी कहते है—

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम ।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निस्काम ॥

(रामा० अरण्य०)

भरतजी कहते है—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान ।
जनम जनम रति रामपद, यह बरदान न आन ॥

(रामा० अयोध्या०)

रसखानजीकी उक्ति भी सुनिये—

गिरि कीजै गोवरधन, मोर नवकुंजनकौ,
पसु कीजै महाराज नंदके बगरकौ ।
नर कीजै तौन जौन राधे राधे नाम रटे,
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगरकौ ॥

एक प्रेमी कामना करते है—

कब हौं सेवाकुंजमें ह्वैहौं स्याम तमाल।
लतिका कर गहि बिरमिहैं ललित लडैती लाल॥

दूसरे पुकारते हैं—

मिलिहैं कब अँग छार ह्वै श्रीवनबीथिन धूर।
परिहैं पदपंकज जुगल मेरे जीवन मूर॥

तीसरेकी चाहकी बानगी भी देखिये—

कब कालिंदी कूलकी ह्वैहौं तरुवरडार।
ललितकिसोरी लाडिले झूलें झूला डार॥

कहाँतक गिनाया जाय ? भक्तोकी हृदयध्वनिको भक्त ही समझ सकते है, हमे तो वारंवार इनके चरणोमें नमस्कार ही करना चाहिये।

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां
यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं
वन्दे सन्ततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे॥

'जो भक्तजन मुक्तिकी भी इच्छा नही करते, जिन्होने पद-पदपर आनन्द बढ़ानेवाले भक्ति-साधनका अवलम्बन कर समस्त ब्रह्माण्डके मुकुटमणि प्रभुको अपने वशमे कर लिया है, उन भक्तो-को, उस भक्तिको और उस भक्तिप्रिय हरि भगवान्‌को हम निरन्तर वन्दन करते है और सदा उनके शरणमे रहना चाहते है।'

भगवद्भजनतत्त्व
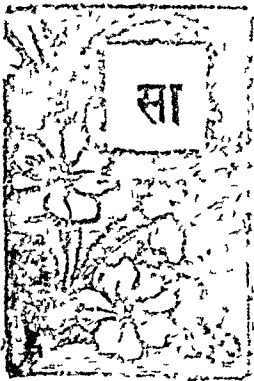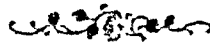
धारणतः लोग नामके जापमात्रको ही भजन-क्रिया मानते हैं। यद्यपि नामोच्चारण भी भजन है, तथापि अन्य प्रकारसे की गयी भगवत्-सेवाको भी भजन ही समझना चाहिये। भगवद्भजन किसी एक प्रकारकी क्रियामें सीमाबद्ध नहीं होता। 'भजन' शब्द 'भज्' धातुसे बनता है और 'भज्' धातु 'सेवायाम्' कहा है। तात्पर्य यह कि भजनीयकी सेवा, उनकी इच्छानुसार वर्तना,—चाहे वह किसी भी प्रकारसे किया जाय—भजन है। इसके अन्दर यह बात निःसन्देह रहती है कि प्रभुकी स्मृति अर्थात् यादगारी कभी छूटती नहीं। यदि भगवत्स्मृतिको भूलकर माला हाथमें लेकर जिह्वासे नामोच्चारण किया जाय और हृदयके

अंदर प्रभुकी स्मृतिके बदले संसारका चिन्तन रहे, तो इसको सच्चा भजन नही कहा जाता। जैसे कबीरदासजीने कहा है—

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माँहिं।
मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरण नाँहिं॥

वास्तवमें यह बात सच्ची है। भजनमे भाव प्रधान है, क्रिया प्रधान नही। यही कारण है कि प्रायः भजन करनेवाले सच्ची भगवत्प्रीति और सच्चे भगवद्भावकी उपेक्षा करके केवल बहिरंग क्रियापरायण होकर न अधिक लाभ ही उठाते है और न अच्छा आदर्श ही स्थापित कर पाते है, क्योकि भजनमे तो सच्ची लगनकी आवश्यकता है। जैसे कहा भी है—

रामनाम सब कोइ कहै, ठग, ठाकुर अरु चोर।
विना प्रेम रीझे नहीं, नागर नंदकिशोर॥

मनुष्य संसारके मनुष्योको धोखा दे सकता है, किन्तु जो 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः'—बाहर, भीतर, दूर-से-दूर, निकट-से-निकट, अन्तर-से-अन्तरतम है, जिसकी शक्तिसे इस चराचर जगत्के यावन्मात्र कार्य हो रहे है, उससे भला किसीका भाव कैसे छिप सकता है? नामजप करते हुए भी सच्चा और अधिक लाभ होनेमे कुछ बाधक और साधक बातोका दिग्दर्शन कराया जाता है। प्रथम तो भजन करनेवालोके हृदयमे यह प्रधान उद्देश्य होना चाहिये कि स्वामीकी जिस कार्यमे सम्मति है या प्रसन्नता है, वही हमारा भजन है। स्वामी जिससे अप्रसन्न हो, वह हमारे लिये परम निषिद्ध कार्य है।

प्रभुकी महानता, अनन्तता, सर्वव्यापकता, सर्वगुणाश्रयता, सर्वाधारभाव अच्छी प्रकार जानकर उनकी आज्ञानुसार जो भी कर्म किया जाता है, वह सब प्रभुका भजन ही है अर्थात् प्रभुकी सेवा है। भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

अर्थात् जिस प्रभुसे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे समस्त जगत् व्याप्त है, उस प्रभुको अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य कल्याणको प्राप्त होता है। स्वाभाविक कर्मोंद्वारा प्रभुका पूजन इस प्रकार समझना चाहिये—जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिको सर्वस्व समझकर उसीका चिन्तन करती हुई उसके आज्ञानुसार उसके लिये ही मन, वाणी तथा शरीरसे कर्म करती है, उसी प्रकार अपने प्रभुको सर्वस्व समझकर उनकी स्मृति रखते हुए उनकी आज्ञानुसार उन्हींकी सेवाके उद्देश्यसे जो भी स्वाभाविक कर्तव्य कर्मका आचरण किया जाता है, वह अपने प्रभुकी सेवा ही है।

भजनमें एक अपने प्रभुकी या प्रभुके प्रेमकी कामनाके अतिरिक्त और किसी भी वस्तुकी कामना नहीं होनी चाहिये। जहाँ कुछ भी अन्य चाह होती है, वह भजन व्यभिचारी भजन हो जाता है। जैसे भगवान्‌ने कहा है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। (गीता १३। १०)

अर्थात् मुझमें अनन्य योगसे अव्यभिचारिणी भक्ति (भी ज्ञानका एक अङ्ग) है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। (गीता १४। २६)

अर्थात् मुझको जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे भजता है।

जब भजनमे भगवान्‌के अतिरिक्त अन्यकी चाह होती है और भजा जाता है भगवान्‌को केवल इसलिये कि इनको भजनेसे हमारी इच्छित वस्तु मिलेगी, तो यह वास्तवमें जिसकी चाह है उसीका भजन है, भगवान्‌में तो यह केवल कैतवप्रेम है। अतएव भजन सदा शुद्ध, निष्काम और प्रेम अकैतव होना चाहिये। भजन गुप्त रखनेका प्रयत्न होना चाहिये। गुप्त साधन वृद्धिको प्राप्त होता है और निर्दोष रहता है और इससे विघ्न उपस्थित नही होते; किन्तु प्रकाश्य साधनमे मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा आदि अनेक विघ्न प्राप्त होनेका भय रहता है।

भजनमें शुद्ध आचरणकी प्रधान आवश्यकता है। ऐसा भी देखा जाता है कि भजन भी करते है, पर पापाचारी है। ऐसी अवस्थामे लाभ कैसे हो सकता है? कुछ लोग कहेंगे कि भजनसे पापाचार स्वयं ही दूर हो जायगा; किन्तु ऐसा विचार करना ठीक नही। क्योकि पापाचरण स्वेच्छासे और कामनासे किया जाता है। अर्जुनने जब भगवान्‌से प्रश्न किया था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

अर्थात् हे कृष्ण! फिर यह पुरुष बलात् लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणासे पापका आचरण करता है?

भगवान् उस समय अर्जुनके इस भ्रमयुक्त भावको दूर करते हुए उत्तर देते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३ । ३७)

अर्थात् रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह महाशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे तृप्त न होनेवाला और बड़ा पापी है। इस विषयमें अर्थात् भगवत्प्राप्तिमें तू इसको वैरी जान।

इसलिये भजनमें पापाचरणको आश्रय नहीं देना चाहिये। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अमानित्व, निष्कपटता, अक्रोध, सेवा, सन्तोष आदि सद्गुणोंको ही अपने हृदयमें स्थान देना चाहिये। नामजप करनेके कालमें प्रभावसहित नामीकी विस्मृति नहीं होनी चाहिये। जैसे कहा है—'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योग० १ । २८)। और भी कहा है—'स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' (योग० १ । १४)। अर्थात् उपरोक्त प्रकार जप सत्कारपूर्वक निरन्तर और दीर्घकाल-तक करनेसे जपकी दृढ स्थिरता होती है। कारण यह है कि अनेक कालका विषयासक्त मन शीघ्र साधनपरायण नहीं होता। अधिक कालतक अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकारके साधनोंसे युक्त होकर चेष्टा करनेसे अधिक लाभ होता है। बहिरङ्ग साधन उसको कहते हैं, जैसे एकान्त देशमें रहना, कम्बल, मृगचर्म, कुशादिका आसन, स्वस्तिकासन, सिद्धासन या पद्मासनसे बैठना, माला आदि रखना, खान-पानका संयम रखना इत्यादि। अन्तरङ्ग

साधन उसे कहते है, जैसे ईश्वरके गुण, प्रभाव, महिमा, स्वरूप आदिको अच्छी प्रकार हृदयंगम करना; अन्तःकरणसे काम, क्रोध, लोभ आदिको निकालनेका यत्न करते रहना; विशुद्ध भगवत्प्रेम, निष्कामभाव, मनकी स्थिरता आदि। बहिरङ्ग साधनोसे अन्तरङ्ग साधन श्रेष्ठ है। अतएव जगत्मे मनुष्यशरीर प्राप्त करके अपने परमहितके साधनोसे विमुख नही रहना चाहिये। जो विमुख रहता है उसे बुद्धिमान्गण आत्मघाती कहते है क्योकि वह अपना नाश स्वयं करता है। जो गलेमे फॉसी लगाकर, जलमे डूबकर, विष खाकर या अस्त्रादिसे अपने प्राणोका नाश करता है, वही केवल आत्मघाती नही है, वरञ्च जो—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(भाग० ११। २०। १७)

अर्थात् साधनोके उत्तम फलस्वरूप यह मनुष्यशरीर अत्यन्त दुर्लभ है। कारण, संसारमे मनुष्येतर जीवोकी संख्या अनन्त है और मनुष्योकी संख्या उनकी अपेक्षा बहुत कम और परिमित है, तथा समस्त जीवोमे मनुष्ययोनि ही श्रेष्ठ है। इसलिये यह दुर्लभ मनुष्यशरीर भगवत्कृपासे सुलभ हो गया है। यह मनुष्यशरीर संसारसागरसे पार जानेके योग्य सुदृढ नौकासदृश है। इस नौकाको ठीक मार्गमे रखनेवाला कर्णधाररूप सद्गुरु माना जाता है और भगवत्कृपारूपी अनुकूल वायु तो सदा सबको प्राप्त है ही। इस प्रकारके सब आयोजन प्राप्त होनेपर भी जो मनुष्य अपना कल्याण नही करता, वह आत्मघाती है। आत्मघातीसे यहॉ क्या

तात्पर्य है ? क्योंकि वास्तवमे आत्माका तो त्रिकालमे भी नाश नहीं होता । जैसे—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

(गीता २ । १९)

अर्थात् जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है, तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनो ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है । अस्त्रादि अन्य किसी वस्तुसे भी इस आत्माका नाश नहीं होता । जैसे—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

(गीता २ । २३)

अर्थात् इस आत्माको शस्त्रादि नही काट सकते, इसको अग्नि नही जला सकता, जल भिगो नही सकता और वायु सुखा नहीं सकता । अतएव आत्मा अवध्य और अच्छेद्य है; फिर आत्मघात क्यो कहा जाता है ? जो मनुष्य अपना वास्तविक स्वरूप विना जाने अपना परमहित किये विना ही स्वेच्छासे अपना प्राण नाश करते है, अथवा समयपर शरीरसे प्राणोका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, इन दोनो ही अवस्थाओका परिणाम खराब ही होता है । जैसे भगवान्‌ने कहा है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

(गीता १६ । १९-२०)

अर्थात् उन द्वेष करनेवाले, पापाचारी, क्रूरकर्मी, नराधमोको मै संसारमे बारंबार आसुरी योनियोमे ही गिराता हूँ; कूकर, शूकर आदि नीच योनियोमे भेजता हूँ। अतएव हे अर्जुन! वे मूढ पुरुष जन्म-जन्ममे आसुरी योनिको प्राप्त हुए मुझको (भगवान्‌को) प्राप्त न होकर उनसे भी नीच गतिको प्राप्त होते है।

इस परिणामको ही आत्मघात कहा गया है, क्योकि भगवद्-भजनविमुख पुरुष अपनेको जो भी कुछ समझता है, उससे क्रमशः अधिकाधिक अधम योनिमे गिरता चला जाता है। जो मनुष्य अपने-आप अपना प्राण नाश करते है, वे निःसन्देह ईश्वर-विमुख होते ही है, क्योकि भगवद्भक्त आत्महत्या नही करते। इस आत्मप्राणनाश अपराधके साथ ईश्वरविमुखताका अपराध भी शामिल है। इसीलिये इन्हे आत्मघाती कहते है। अतएव हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम अपने परम हितके साधनका उपाय करे। हमसे अबतक जितना भी अपराध और पाप हुआ है, भगवद्-आश्रयसे वह सब दूर हो सकता है। हॉ, यह अवश्य अच्छी प्रकार समझ रखनेकी बात है कि भगवद्भजनसे सब पाप दूर होते है; पर यदि भगवद्भजनका आधार लेकर पाप करे अर्थात् यह समझ-कर पाप करे कि भजन करके पापोका नाश कर देगे, तो ऐसे भाव रखनेवालोके पाप नाश नही होते; क्योकि उन्होने भजनको पाप करनेका साधन बनाया है और भगवान्‌को धोखा देना चाहा है। इसका परिणाम यह होता है कि वे स्वयं जबरदस्त धोखा खाते है और अन्तको नरकगामी होते है। तात्पर्य यह कि

मनुष्य अपना हित और अनहित करनेवाला वास्तवमें स्वयं आप है। जैसे—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(गीता ६।५)

'अपने द्वारा अपने आपका संसारसमुद्रसे उद्धार करे, अपनी आत्माको अधोगतिमें न पहुँचावे; क्योंकि यह जीवात्मा आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

(गीता ६।६)

अर्थात् उस जीवात्माका वह आप ही मित्र है जिसने अपने द्वारा मन-इन्द्रियोंसहित शरीर जीत लिया है और जिसने मन-इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता है, उसके लिये वह शत्रुके सदृश आप ही शत्रुतामें बर्तता है।

अन्तमें बद्धाञ्जलिसे यह प्रार्थना है कि उस श्यामसुन्दर नन्दनन्दनका सर्वभावेन आश्रय लेना ही परम कर्तव्य है—'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन' और—

कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति
रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
ते भिन्नदेहाः प्रविशन्ति कृष्णं
हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशे॥

(पाण्डवगीता ११)

साधनतत्त्व

परम पुरुषार्थ क्या है ? इस बातको चाहे सब लोग न जानते हो, पर इतना तो किसीको समझाना नही होगा कि दुःखोकी आत्यन्तिक निवृत्ति और अनन्त परमानन्द-की प्राप्ति तो सभी (अज्ञ और विद्वान्) चाहते है। वास्तवमे इसीका नाम परम पुरुषार्थ है। इसकी सिद्धिके लिये जगत्मे अनेक साधन है और उन साधनोमे बहुत कुछ मतभेद भी देखा जाता है। यहाँ इस विषयका बहुत विस्तार न करके संक्षेपमे ही अपने विचार प्रकट किये जाते है। कल्याणकामी सज्जन अपने-अपने विचारानुसार साधन करते ही है और वे सभी वन्दनीय है। यदि नीचे लिखे विचार किसीके कुछ कामके होगे तो आनन्दकी बात होगी। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि साधन तेज नही होता अथवा इच्छा रहते हुए भी साधन बिल्कुल ही नही बनता। विचार करना चाहिये कि इसका क्या कारण है ? मेरी

समझसे साधनका रहस्य न समझनेके कारण ही ऐसा होता है। यहाँ साधनके चार प्रकार लिखे जाते है, यदि कुछ गम्भीरतासे विचार किया जायगा तो चार प्रधान भेद स्पष्ट दिखलायी देंगे। इनको जानकर अपनी रुचि और अधिकारानुसार इनका अलग-अलग या यथाक्रम समुच्चय करके प्रयोग करना चाहिये।

१–*क्रियासाध्य साधन*–उसको कहते हैं जिसको करना अपने अधिकारमे हो—जो विद्या, धन, बल, प्रारब्ध या अन्य किसीकी सहायताकी अपेक्षा नही रखता हो, तथा जिसको सभी केवल इच्छामात्रसे कर सकते है। जैसे—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, भगवन्नामजप इत्यादि।

२–*अभ्याससाध्य साधन*–उसको कहते है, जो विद्या, धन, बल, प्रारब्ध आदिकी अपेक्षा तो नहीं रखता, पर जिसमे पुनः-पुनः आवृत्तिकी आवश्यकता है। जैसे—निरन्तर जप, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोका सहन, अक्रोध इत्यादि।

३–*बोधसाध्य साधन*–उसको कहते है जो विचार और समझके आधारपर किया जा सके। यह साधन विचार और समझके बिना नहीं बन सकता—जैसे परमात्माकी सर्वव्यापकताका अनुभव, सबमे भगवद्दर्शन, ध्यान, संसारकी अनित्यताका ज्ञान, भगवान्‌के सुहृदता, दयालुता आदि गुणोका जानना इत्यादि।

४–*भगवत्कृपासाध्य साधन*–उसको कहते है जिसमे साधनकी अपनी कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं रहती। यह साधन

अपनी इच्छामात्रसे नहीं बनता, केवल प्रभुकृपासे ही बनता है। यही चरम साधन है, परम पुरुषार्थप्राप्तिका यही साक्षात् साधन है। इसीको श्रीनन्दनन्दनने इन शब्दोमे कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमे लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोको (मै) वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते है।'

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(१०।११)

'उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मै स्वयं उनके अन्तःकरणमे एकीभावसे स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट करता हूँ।'

जिस कालमें यह साधन होने लगता है, उस कालमे बिना ही परिश्रम सब साधन अपने आप होने लगते है, बिना ही समझाये सब तत्त्व समझमे आने लगते है, अपार प्रेमका प्रवाह बहने लगता है और साधक अहर्निश प्रभुके प्रेममे निमग्न रहता है।

साधन-तत्त्वसे अनभिज्ञ साधक क्रियासाध्य साधनको भगवत्कृपासाध्य मानकर अविवेकसे निश्चिन्त हो बैठते है। अभिमानके नाशके लिये सभी अवस्थाओमे भगवत्कृपाका मानना सर्वसम्मत है और इसकी आवश्यकता भी है। परन्तु ऐसे लोग तो अकर्मण्यता, आलस्य और प्रमादजन्य दोपसे सदाचार और

सत्क्रियाओंको करनेकी सामर्थ्य और स्वतन्त्रता रहते हुए भी उन्हें नहीं करते—जैसे गोस्वामीजीने कहा है—'कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ', साधन-सम्बन्धमें स्वयं कुछ भी नहीं करना चाहते। सासारिक कर्मोंमे पूर्ण कुशल और उद्योगी रहते हैं, परन्तु अपने हितकर कल्याणकारी कामोंमे प्रभुकृपाका वहाना वतलाकर उदासीनता, असमर्थता प्रकट करते हैं। ऐसे ही लोग 'सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ' गोस्वामीजीके इन वचनोंको चरितार्थ करते है। ऐसे मनुष्योंको कुछ लाभ नहीं होता, वरं इनका अधःपतन ही होता देखा जाता है।

अभ्यासजन्य साधनके विषयमे पतञ्जलि ऋषिने कहा है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

(योगदर्शन १। १४)

'यह साधन दीर्घकाल निरन्तर और सत्कारपूर्वक करनेपर दृढ होता है।' जल्दी ही सिद्धि पानेकी उमंगमे जो साधक यह साधन करता है, वह आगे चलकर अपने मन-इच्छित समयमे यथार्थ लाभ न देखकर हताश हो जाता है। एक मन्दबुद्धि मनुष्यने किसीके खेतमे गेहूँसे लदे हुए पौधोंको देखकर अपने खेतमे भी वैसे ही गेहूँ पैदा करनेके लालचसे उससे पूछा कि 'भैया! मेरे खेतमे गेहूँ कैसे हो सकते हैं?' उक्त मनुष्यने कहा कि जमीनमे अच्छी तरह अन्न छीटकर उसे पानीसे सींचते रहो। आप ही अन्नसे भरे पौधे तैयार हो जायँगे। उसने अपने खेतमे अन्न छीट दिया और जल भी सींच दिया, पर मन्दबुद्धिवश उचित समयकी वाट न देखकर एक-ही-दो दिनोंके वाद खेतमे गेहूँके

वैसे पौधे न देखकर हताश हो गया और जल सींचना बन्द कर दिया तथा पश्चात्ताप करता रहा। इसी प्रकार शीघ्रतासे फल चाहनेवाले लोग अभ्यासजन्य साधन नही कर पाते।

क्रियासाध्य साधन और अभ्याससाध्य साधन होनेपर भी कभी-कभी साधकके हृदयमे समत्व और उदार भाव प्रकट नहीं होते। इसका कारण है बोधसाध्य साधनका अभाव। यह साधन विचारसे प्राप्त होता है, चाहे वह विचार किसीके समझानेसे या शास्त्रोके गम्भीर विचारसे उदय हो। इस प्रकार जब बोधसाध्य साधन होने लगता है तब किसी पक्षविशेषका आग्रह नही रहता। वह साधक भगवत्-तत्त्वमे हर समय सावधान रहता है।

प्रभुकृपासाध्य साधन प्रभुकी अनन्यशरणको ही कहते है। परन्तु आजकल इसके चाहे जैसे मनमाने अर्थ लगाये जाते है, अन्याय-दुराचार करते हुए भी लोग अपनेको प्रभुशरण कहते रहते है और प्रभु-आज्ञाका किञ्चित्मात्र भी पालन नही करते। इन्ही सब कपटव्यवहारोके कारण वे लोग प्रभुकृपासे वञ्चित रहते है। जो लोग अपनी शक्तिके अनुसार क्रियासाध्य साधन करते है, बुद्धिके अनुसार विचार करते है तथा दीर्घकालतक इसीमे लगे रहते है और सब साधनोको प्रभुके ही आश्रित मानते है उनके कल्याणका जिम्मेवार स्वयं भगवान्‌को होना पडता है। देखिये गीता ९।२२ और १२।७।

सेवा-तत्त्व

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(भाग० ११।२।४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि, जीवगण, दिशाएँ, वृक्षादि, नदी, समुद्रादि जो कुछ है, सबको भगवान्‌का ही स्वरूप समझकर अनन्य भावसे प्रणाम करे।'

संसारमें उसी मनुष्यका जीवन धन्य है जो सेवासे युक्त है और जो हृदयमें अपनेको सेवक तथा जगत्‌में जो कुछ है, सबको अपने स्वामीकी मूर्ति मानता है। पूज्यपाद गोस्वामीजीने भी कहा है—

सो अनन्य जाकी असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवंत॥

(रामा०—किष्किन्धा०)

क्या ही सुन्दर भाव है। सच्चे अनन्य भक्तकी यही पहचान है। अतएव मनुष्यमात्रको सच्चा सेवक बननेका यत्न करना चाहिये। प्रायः हमलोग सेवकके स्थानमे स्वामी बननेको ही उत्सुक रहते है, क्योकि हमारी चाह ही ऐसी होती है। 'सब लोग हमे आराम पहुँचायें, हम सुखी बने रहे, दूसरोके दुःखकी हमे कुछ भी परवा नही; सब हमारी सेवा करें, हम किसीकी सेवा करना नही चाहते; जगत्‌मे सब भोग हमारे लिये ही बने है और सारा संसार हमारे लिये ही है; पर हम किसीके लिये नही है।' यही स्वामीपनके भाव है। सच्चे सेवकके भाव इससे बिल्कुल भिन्न होते है, वह किसीसे कभी सेवा करानेका भाव स्वप्नमे भी नही रखता। बलात्कार यदि कोई उसकी सेवा करे तो इससे उसे व्यथा होती है, पर वह स्वयं अन्यकी सेवा करके आनन्दका अनुभव करता है। ऐसे सेवकको सेवा करनेमे चाहे कितने ही कष्टोका सामना क्यो न करना पडे, सेवाके हेतु प्राणविसर्जन ही क्यो न करना पडे, फिर भी उसे लेशमात्र भी कष्ट नही होता, बल्कि आनन्द-ही-आनन्द होता है। इस प्रकारकी सेवा वह निर्विशेषभाव-से करता है। तात्पर्य यह है कि सेवा करते समय, 'अमुक हमारे सम्बन्धी है, प्रेमी है; अमुक व्यक्ति धनी है, साधु-महात्मा है' इत्यादि हेतु उसके सामने नही होते। मनुष्यसेवाकी तो बात ही क्या, वह तो पशु-पक्षी आदिकी भी सेवा करके अपनेको धन्य मानता है। उसका हृदय सदा दयासे पूर्ण होता है। किसीका दुःख उससे सहन नही होता, अपनी शक्तिके अनुसार वह सदा दूसरोके दुःख दूर करनेमे यत्नशील रहता है। पूज्यपाद गोस्वामी

तुलसीदासजीने जैसा संतके हृदयका वर्णन किया है, सच्चे सेवक-का हृदय भी वैसा ही होना है—

संतहृदय नवनीतसमाना। कहा कविन, पै कहा न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। संत द्रवइ पर ताप पुनीता॥
(श्रीराम० उत्तर०)

सेवासे क्या लाभ है ?

कहा जाता है कि सेवा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरण शुद्ध होनेका अर्थ है सेवाभावसे और सेवाकार्यसे अन्तःकरणमे दिनोदिन उत्तरोत्तर दया, निष्कपटता, प्रेम, उदारता, सरलता, निर्भीकता, तेज, त्याग, उत्साह आदिकी वृद्धि तथा पाप, पक्षपात, स्वार्थ, निर्दयता, छल, निन्दा, भय, आलस्य, प्रमाद, लोभ, मोह आदिका नाश होना। यही अन्तःकरणकी शुद्धि है। किस प्रकारसे उपर्युक्त सद्गुणोकी प्राप्ति तथा दुर्गुणोका नाश होता है, इसका स्पष्टीकरण विस्तारभयसे यहाँ नही किया जाता है; पाठक स्वयं ही विचार ले।

साधारणतः लोग सेवाका अर्थ केवल दूसरोको भोजन या वस्त्र देना, रहनेको स्थान देना, द्रव्य देना या शुश्रूषा करना इत्यादि समझते है। यद्यपि ये सभी सेवाके कार्य है, तथापि सेवा-के अनेक परदे हैं जो समझनेयोग्य है। उनका स्पष्टीकरण अपनी बुद्धिके अनुसार पाठकोके सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

सच्ची सेवा

संक्षेपमे कहा जा सकता है कि जिस कार्यको करनेसे दोनोका (अर्थात् जिसकी सेवा की जाय उसका तथा सेवकका)

हित हो और उन्हे सुख मिले और जिसमे किसी प्रकारके स्वार्थ-की गन्ध भी न हो तथा जिसमे कोई हेतु या अभिमान न हो, वही सच्ची सेवा है। सेवाकी ऐसी व्याख्या क्यो की जाती है ? बात यह है कि जिसकी सेवा की जाती है उसको उसमे सुख न मिले बल्कि दुःख होता हो तो वह सेवा नही कही जा सकती, उसे तो पीडा पहुँचाना ही कहना ठीक होगा। इसी प्रकार जो सेवा सेवक कष्ट सहता हुआ दुःखपूर्वक करता है वह सेवा भी प्रशंसनीय नही होती, क्योकि ऐसी अवस्थामे सेवक किसी भी कारणसे बाध्य होकर बिना प्रेमके सेवा करता है। यदि वह प्रेमपूर्वक सेवा करता तो देखनेवाले दूसरेकी दृष्टिमे प्राणान्तक कष्ट-को सहते हुए भी वह स्वयं किञ्चिन्मात्र भी दुःखका अनुभव न करता, बल्कि परमानन्दको ही प्राप्त होता तथा सेवाके हित प्राण-का भी बलिदान करनेमे अपना अहोभाग्य समझता। इस विषयमे एक आख्यायिका शास्त्रोमे आती है—

राजा रन्तिदेव विख्यात दानी थे। वे सदा दानमे अपना धन देते रहते थे। वे इतने बड़े दानी थे कि स्वयं भूखो रहकर भी पासके अन्नको भूखेको दे डालनेमे तनिक भी नही हिचकिचाते थे। एक बार दान करते-करते राजा रन्तिदेवने अपना सब धन दानमे दे डाला और आप परिवारसहित भूखो मरने लगे। इस प्रकार अडतालीस दिन व्यतीत हो गये, भूख-प्याससे उनका शरीर अवसन्न हो गया, परन्तु उनके हृदयकी प्रसन्नतामे कोई कमी न आयी। उनचासवे दिन राजाको कुछ भोजनकी सामग्री मिली। वे भोजनकी तैयारी कर ही रहे थे कि एक भूखा ब्राह्मण अतिथि

आ पहुँचा । राजाने प्रीतिपूर्वक उसे भोजन कराया और बचे हुए अन्नको अपने परिवारमे बॉटकर वे अपने हिस्सेका अन्न भोजन करनेके लिये बैठे । इतनेहीमे एक भूखा शूद्र अतिथि आ गया । राजाने अपने हिस्सेसे उसे भोजन कराया और वह तृप्त होकर चला गया । इसके पश्चात् एक दूसरा अतिथि बहुत-से कुत्तोको साथ लेकर आया और बोला—'हे राजा, मै और मेरे कुत्ते भूखे है, कुछ खानेको दीजिये ।' राजाने बचा हुआ अन्न उसे सम्मानपूर्वक देकर प्रणाम किया । अब राजाके पास केवल जलमात्र बच रहा, वह उसे पीकर अपनी प्यास बुझाना ही चाहते थे कि इतनेमे एक चाण्डाल वहॉ आ पहुँचा और गिडगिड़ाकर कहने लगा कि 'महाराज ! मै बहुत ही थका-मॉदा हूँ, मुझे पीनेके लिये थोडा-सा जल दीजिये ।'

इस दीनतापूर्ण वचनको सुनकर राजाने वह बचा हुआ जल भी उसको पिला दिया और भगवान्‌से यह प्रार्थना की—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्त्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥

(भाग० ९ । २१ । १२)

अर्थात् 'मै परमेश्वरके निकट अणिमादि अष्ट सिद्धियोसे युक्त गति अथवा मुक्तिकी कामना नही करता । मेरी यही प्रार्थना है कि मै ही सब प्राणियोके अन्तःकरणमे स्थित होकर दुःख भोग करूँ जिनसे उनका दुःख दूर हो जाय ।' इसके बाद राजाको

त्रिभुवनपति भगवान्‌ने अपना दिव्य दर्शन दिया। भगवान् ही इस प्रकार विभिन्न रूप धारणकर रन्तिदेवकी परीक्षा कर रहे थे। इस प्रकार सच्चा सेवक सेवामे कष्ट नही मानता, बल्कि जितनी ही अधिक कष्टप्रद सेवा होती है उतना ही अधिक वह अपनेको धन्य समझता है।

जो सेवा स्वार्थसे की जाती है वह सच्ची सेवा नही है, क्योकि स्वार्थसे सेवा करनेवाला जहाँ स्वार्थ नही देखता वहाँ सेवा-मे तत्पर नही होता और स्वार्थ सिद्ध हो जानेके बाद उसका सेवाभाव भी नही रहता। ये हमारे सम्बन्धी, कुटुम्बी है, या साधु-महात्मा है, अथवा ये काम पडनेपर हमारी सहायता कर सकते है, इस प्रकारके हेतु भी सेवामे प्रशंसनीय नहीं है। इस प्रकार-की सेवा संकुचित होती है। इसे निर्विशेष अहैतुकी सेवा नही कह सकते।

सेवकके हृदयमे सेवाके उपरान्त यदि यह भाव उत्पन्न हो कि मैने अमुककी सेवा की है अथवा उपकार किया है तो इस प्रकारका अभिमान सेवाको तुच्छ बना देता है। भक्त नरसीजी महाराज कहते है—

वैष्णवजन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे, तोये मन अभिमान न आणे रे॥

सच्चा सेवक सेवा करके अपनेको उपकृत मानता है और जिसकी सेवा करता है उसको उपकारक मानता है। सेवाकार्यमे भी भाव ही प्रधान है। सेवककी भावना जितनी ही ऊँची होगी,

सेवा भी उतनी ही उच्च कोटिकी समझी जायगी। यों तो संसारमें वेतनभोगी सेवक अनेक प्रकारकी छोटी-बड़ी सेवा करते हैं, पर उससे उनके हृदयमे उपर्युक्त दिव्य गुणोका आविर्भाव नहीं होता और न उन्हे परमानन्दकी प्राप्ति ही होती है। सच्चे सेवककी निम्न-लिखित विशेषताएँ हैं—

१—वह अपनेको कभी स्वामी नहीं मानता।

२—वह जीवमात्रकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है।

३—सेवा करके पश्चात्ताप नही करता।

४—सेवा करके दुखी नहीं होता।

५—सेवा करके अभिमान नहीं करता।

६—सेवा करके बदलेमे कुछ भी नही चाहता।

सेवामे जितना ही अधिक त्याग होता है, सेवा भी उतनी ही अधिक मूल्यवान् होती है। किसीको प्रसन्न करनेके लिये जो सेवा होती है वह तो दिखौआ, नकली सेवा है।

सेवा किसकी करनी चाहिये

जो किसी प्रकारसे आर्त्त या दुखी है, जिन्हे सहायता या सेवाकी आवश्यकता है, अथवा जो सेवा करनेसे असन्तुष्ट नही होते उनकी सेवा अवश्य ही करनी चाहिये। जो सेवा कराना नही चाहते पर सेवा करनेपर प्रसन्नता या अप्रसन्नता भी नही प्रकट करते उनकी भी सेवा करनी चाहिये! पर जो सेवा नहीं कराना चाहता और बलात् की हुई सेवासे असन्तुष्ट होता है, वहाँ

उसकी आज्ञाका पालन करना ही सेवा है। क्योंकि वह आदर्श पुरुष होता है, उसका व्यवहार जगत्‌के लिये शिक्षाप्रद और अनुकरणीय होता है, उसे आदर्शसे हटानेका प्रयत्न करना अनुचित है। सेवक और सेव्यमे भाव-विलक्षणताके कारण कभी-कभी ऐसा होता है कि सेव्य ही सेवककी कोटिमे आ जाता है और सेवक सेव्य बन जाता है। जैसे कोई सत्पुरुष, जो सेवा कराना नहीं चाहता और स्वयं सेवा करना अपना कर्त्तव्य समझता है, जो सेवाके रहस्यको अच्छी तरहसे जानता है और अपने आवश्यक कार्योंको स्वयं ही करता है, उससे यदि कोई सेवक सेवा करानेके लिये विशेष आग्रह या हठ करे और सेवा न करानेसे इसके दिलमे दुःख हो तो (यद्यपि इस प्रकारका दुःख होना सर्वथा अनुचित है) ऐसी स्थितिमे केवल सेवककी प्रसन्नताके लिये ही अनिच्छासे उसकी सेवाको अंगीकार करना सेव्यको सच्चे सेवककी कोटिमे ला देता है क्योकि इसमे अन्यके सुखके लिये वह अपने सुखका त्याग करता है। ऐसे उदाहरणोमे सेवक भी तत्त्वतः सेव्य बन जाता है क्योकि वह अपनी प्रसन्नताके लिये ही आग्रहवश सेवा करता है। यही भाव-वैचित्र्य है !

सुखदुःखतत्त्व
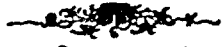
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। (मनु० ४।१६०)

कीट-पतंगादिसे लेकर देवतातक जगत्के समस्त जीव सुख-दुःखके उलझनोमे फँसे हुए हैं। जिधर देखिये उधर ही सभी इसी चक्रमे भ्रमित है कि हमें सुख मिलें, हम सुखी होवें, हमे दुःख न मिलें, दुःखोंसे हमारा विल्कुल छुटकारा हो जाय। परन्तु फल यह हो रहा है कि सुख तो मिलता नहीं है, उलटे लोग दुःख-ही-दुःखके समुद्रमे गोते खा रहे है। यह बड़ा ही आश्चर्यमय खेल है कि जिसे हम सुख समझते हैं और सुखरूप जानकर अपनाते है वही फिर दुःखकी मूर्ति दिखलायी देने लगता है। हा! मन्दभाग्य जीव! इस मृगतृष्णामे पडकर तैंने बहुत समय बिता दिया, पर तुझे सच्चे सुखकी बूँद भी न मिली। गोस्वामीजीने सच कहा है—

ऐसेहि जनम समूह सिराने।
प्राननाथ रघुनाथ-से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने॥
सुख-हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने।
सदा मलीन पंथके मल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने॥
यह दीनता दूरि करिबेको अमित जतन उर आने।
तुलसी चित-चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने॥

(विनयपत्रिका)

सासारिक जीवन सुख और दुःख इन दो वस्तुओके अन्दर ही सीमाबद्ध हो रहा है। हमारे सम्पूर्ण उद्योग, परिश्रम या क्रिया-का परिणाम स्वेच्छासे या अनिच्छासे जो कुछ भी होता है उसको

हमलोग कभी सुख कहते है और कभी दुःख कहते है। यही हम-लोगोंकी आदत पड़ गयी है, इसपर हम कभी गम्भीरतापूर्वक विचार नही करते।

सर खनत ही जनम गयो, कबहुँ न तृपत भयो।

तालाब खोदते-खोदते उम्र बीत गयी, पर जल पीकर कभी तृप्त नही हुए। यही दशा हमारी हो गयी है।

जो मनुष्य इन दोनो (सुख-दुःख) के फंदेसे छुटकारा पा जाता है वही कल्याण-पदका या अनन्त शाश्वत सुखका अधिकारी होता है। सुख यद्यपि वाञ्छनीय है तथापि ऊपर जिस सुखके त्यागकी बात कही गयी है वह सुख कुछ और वस्तु है, और वाञ्छनीय सुख कुछ और ही है। इसीका विवेचन यहाँ संक्षेपमे करना है।

संसारासक्त लोगोका सुख क्या है? कोई आपात रमणीयताको, कोई आपात आह्लादको, कोई प्राकृतिक विषयजन्य परिणामको, कोई प्राकृतिक विषयोमे अभ्यासजनित परिणामको सुख मानते है। जैसे (१) सुन्दर स्त्रीके सौन्दर्यरूप रमणीयताको सुख मानना। यह आपात इसलिये कहा जाता है कि शारीरिक रूप-लावण्य कुछ कालके बाद उस दूसरे रूपमे परिणत होनेवाला है जिसे लोग सुन्दर न कहकर कदर्य कहते है और उससे घृणा करते है। (२) भोजनकालमें भोजन प्रिय लगना अथवा खेल-तमाशे आदि-का सुख उतने ही कालतक प्रतीत होता है जबतक कि उसका संग रहता है, पीछे वह सुख नही रहता—ऐसे सुखको आपात आह्लाद कहते हैं। (३) मेहनत करके धनोपार्जन, व्यायाम करके

बलोपार्जन आदिमें जो सुख होता है, वह प्रकृतिविपयजन्य परिणाम-का सुख कहलाता है। (४) मादक वस्तु आदिके सेवनमे सुख मानना; जिसमें सांसारिक सुखके न होते हुए भी केवल अभ्यास-मात्रसे सुखकी प्रतीति होती है, प्राकृतिक विपय-अभ्यास-जनित सुख कहलाता है। इस प्रकार सासारिक सुखोके कुछ भेदोंका वर्णन किया गया, परन्तु महर्पि पतञ्जलि कहते हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (२।१५)

जिसका परिणाम दुःख है, जो ताप देनेवाला है और जहाँ गुण-वृत्तियोका विरोध रहता है वह सब ही विवेकी पुरुपोकी दृष्टिमे दुःखरूप ही है।

महर्पिके इस कथनको और भी स्पष्ट समझिये। उदाहरणके लिये एक वस्तुका भेद दिखलाया जाता है। धन आजकल संसारमे सबसे श्रेष्ठ माना जाता है, अतएव इस धनमे ही उपर्युक्त सूत्रके अर्थको समझनेकी चेष्टा कीजिये।

धनका परिणाम—प्रायः धनका परिणाम कलह, कष्ट, मामला-मुकद्दमा, वैर, द्वेष, चोर-डाकुओका भय, प्राणनाश और अनेक प्रकारके प्रमादोका उत्पादन है। अन्तमे धनका वियोग भी होता है। भर्तृहरिजी कहते हैं—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विपया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत् स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

(वैराग्यश० १२)

बहुत कालसे सेवन किये हुए विषयादि अवश्य जानेवाले हैं, उनके वियोग होनेमे कुछ भी सन्देह नही है, पर फिर भी मनुष्य स्वयं उनका त्याग नही करते। जब विषयादि मनुष्यको स्वयं त्यागकर चले जाते है तो उसे बहुत दुःख होता है। जो मनुष्य इस विषयमें सदा सावधान रहता है कि एक दिन विषय-भोग हमे अवश्य त्याग देंगे (इसलिये इनका सङ्ग नही करना चाहिये) वह अनन्त सुख और शान्तिको प्राप्त होता है। गोस्वामीजी भी जीवको चेतावनी देते हुए कहते हैं—

मन पछितैहै अवसर बीते।
अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर ! तू न तजै अबही ते ॥(विनयपत्रिका)

अब धनके तापको समझिये। जिसके पास धन रहता है, वह उसको सुरक्षित रखनेके लिये सदैव चिन्तित रहता है। धन कम न हो जाय, चोर-डाकू उसे न ले जायँ, हानि न हो, कहीं धन किसीमें डूब न जाय—इत्यादि सन्ताप धनवालेको सदैव अन्तः-करणमे जलाया करते हैं।

धनके संस्कार भी दुःखदायी होते है। धनी पुरुष जब निर्धन हो जाता है तब वह अपनी सम्बन्धी धनका पूर्व अवस्थाका स्मरण करके अति दुःखी होता है। अब गुण-वृत्ति-विरोधको देखिये। धनके द्वारा अन्तःकरणमे विभिन्न प्रकारके सुख-भोगकी वृत्तियाँ पैदा होती है। कभी सात्त्विक सुखके लिये धन-व्ययकी इच्छा होती है, कभी राजस-सुखके लिये और कभी तामस-सुखके लिये ! इससे बहुधा अन्तःकरणमे इन वृत्तियोमे युद्ध भी हुआ करता है। वृत्तियाँ अपनी-अपनी ओर मन, बुद्धिको खीचने लगती है। क्या करें

और क्या न करे, इस बातके निर्णय करनेमें बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इसीको गुण-वृत्ति-विरोध कहते हैं।

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिके सूत्रको समस्त सांसारिक वस्तुओंपर घटाकर यदि हम देखें तो सबका स्वरूप दुःखरूप ही प्रतीत होगा। सुख-दुःखका एक और विवेचन पाठकोंके सामने रक्खा जाता है। वस्तुतः समस्त प्राकृतिक वस्तुएँ न सुखरूप है और न दुःखरूप। वस्तुओंमे सुख-दुःखकी भावना अपने-अपने कल्पित भावोंसे सम्बन्ध रखती है। उदाहरणार्थ अग्निको लीजिये। शीतकालमें अग्नि सुखद मालूम होती है, परन्तु अत्यधिक मात्रामे वह शीतकालमे भी सुखद नहीं होती। ग्रीष्म-ऋतुमें तो वह कष्ट-दायक ही हो जाती है। इसी प्रकार मलिन-से-मलिन वस्तु भी एकके लिये दुःखरूप है तो दूसरेके लिये वही सुखरूप देखी जाती है। एक ही रूप एक कालमे दुःखरूप, दूसरे कालमें सुखरूप, कम मात्रामे सुखरूप तो अधिक मात्रामें दुःखरूप, अथवा कम मात्रामें दुःखरूप तो अधिक मात्रामें सुखरूप, एक जीवको दुःखरूप तो दूसरेको सुखरूप होता है। जगत्मे एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जो सबको सब कालमे, सब रूपमें, सब अवस्थामें सुखरूप ही हो अथवा सब काल, सब रूप, सब अवस्थामे सबको दुःखरूप हो। यह भी कहना ठीक नही कि एक ही वस्तु दुःख-रूप है और सुखरूप भी है। अतएव यह कहना पडता है कि प्राकृतिक कोई भी वस्तु या क्रिया न सुखरूप है और न दुःखरूप। वस्तुएँ केवल काल्पनिक भावनासे सुखरूप या दुःखरूप भासती है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे समस्त जागतिक पदार्थोंकी यही दशा प्रतीत होगी । जो इस सुख-दुःखके तत्त्वको समझकर अनुभवमे लाता है वह कभी सुख-दुःखोके उलझनोमे नही पड़ता । न कभी सुखी या दुःखी ही होता है । उसका सच्चा आनन्दमय जीवन हो जाता है । जैसा गीतामे कहा है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ (५ । २०)

जो पुरुष प्रियको प्राप्तकर हर्षित नही होता और अप्रियको प्राप्तकर उद्विग्न नहीं होता, ऐसा स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके एकीभावमे सदा स्थित है ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥
(गीता १२ । १७)

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेप करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है वह भक्तियुक्त पुरुप मुझको प्रिय है ।

वास्तविक सच्चे सुखका विवेचन फिर कभी अवसर मिलनेपर किया जा सकता है । इस समय केवल इतना ही निर्देश करना पर्याप्त होगा कि जो सच्चा सुख है वह सबको, सब कालमे, सब अवस्थामें सुखरूप होता है, उसमे अल्पता या अधिकता नहीं होती, वह सदा परिपूर्ण है, नित्य है । उस सुखके रहते न तो किसी भी प्रकारका दुःख आ सकता है और न किसी अभावकी ही अनुभूति होती है ।
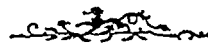
शरणागतितत्त्व

भक्तिके अन्यान्य साधनोमे शरणागति सर्वोत्तम साधन माना जाता है। इसीको भक्तोने आत्मनिवेदन, आत्म-समर्पण अथवा प्रपत्ति कहा है। केवल भक्तिके साधनमें ही इसकी विशेषता नही है अपितु जितने प्रकारके कल्याणकारी साधन है, उन सबमे प्रधान तत्त्व शरण है। कल्याण चाहनेवालेका साधन आरम्भहीसे शरणागतभावको लेकर शुरू होता है। जैसे मुमुक्षुओके लिये श्रुतिमे इस प्रकारका वर्णन आता है—'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' यहाँपर, अपने कल्याणके लिये श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास समिधा लेकर जानेका आदेश किया गया है। श्रीकृष्ण भगवान्‌ने भी गीतामें इसी बातको समर्थन करते हुए कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'इसलिये हे अर्जुन! तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोसे, भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम तथा सेवा और निष्कपटभावसे किये

हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान, वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

इससे यह पता लगता है कि अपने श्रेयके लिये प्रथम गुरु-चरणोंकी शरण ली जाती है, फिर गुरुद्वारा उपदिष्ट होकर परमात्मामें आत्मसमर्पण किया जाता है अर्थात् सद्गुरु ऐसे शरणागत शिष्योंको भगवान्के चरणकमलोंके आश्रयमे पहुँचाकर अपना कर्तव्य पूरा कर देता है। सच्चा गुरु वही है जो अपने आश्रित जनोंको भगवान्के चरणोंमे समर्पित कर दे। यदि कोई गुरुकी शरण प्राप्त करनेपर भी भगवदाश्रयसे वञ्चित रहे तो यही समझना चाहिये कि या तो गुरुकी शरणप्राप्तिमे त्रुटि है अथवा सच्चे योग्य गुरुका अभाव है। शिष्यका कर्तव्य शुद्धान्तःकरणसे—निष्कपटभावसे गुरुकी शरणमे जाना और गुरुका कर्तव्य अपने आश्रितको भगवत्-शरणमे पहुँचा देना है। अतएव मुमुक्षुके लिये शरणका साधन आरम्भसे ही आवश्यक है।

यह साधन सभी श्रेणीके साधकोंके लिये प्रधान माना जाता है,—चाहे वह सांख्ययोगी, कर्मयोगी, ध्यानयोगी, हठयोगी अथवा भक्तियोगी हो। सभी मार्गोंमे शरणकी प्रधानता है—आरम्भ और उपसंहार दोनों ही शरणमे होते है। प्रत्येक मार्गके उपक्रम तथा उपसंहारमे शरणका तत्त्व छिपा हुआ है। यहाँपर इसका विवेचन प्रसंग-विस्तारके भयसे स्थगित करके प्रस्तुत विषय 'गीतोक्त शरणागति' के विषयमे ही अपना मन्तव्य पाठक-पाठिकाओंकी सेवामे उपस्थित करना है। उक्त विषयपर विचार करनेके पहले यह भी कह देना आवश्यक है कि शरणागतिके तत्त्वको वही

जानते है जिनके वास्तवमे भगवान्को छोड़कर कोई अन्य शरण नहीं है । मै तो केवल शिक्षार्थीकी भॉति अपने साधनमे सहायता-की दृष्टिसे इस विषयकी चर्चाके लिये उद्यत हुआ हूँ और एक बालकके सदृश अपने विचारोको आपलोगोके चरणोमे उपस्थित करता हूँ ।

श्रीमद्भगवद्गीताका उपक्रम शरणागतिसे है और समाप्ति भी शरणागतिमे ही है—दूसरे शब्दोमे यों भी कह सकते हैं भगवान् श्रीकृष्णकी जगत्प्रसिद्ध शिक्षाका बीज शरणागति ही है। भारतकी समरभूमिमे जब अर्जुन व्यामोहके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और उन्हे अपने मोहके नाशका कोई उपाय न सूझ पड़ा, तब उन्होने अखिल जगद्गुरु श्रीनन्दनन्दन श्यामसुन्दरके चरणों-का आश्रय लिया—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

(गीता २ । ७)

'कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला और धर्मके विषयमे मोहितचित्त हुआ (मै) आपसे पूछता हूँ । जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो वह मेरे लिये कहिये (क्योकि) मै आपका शिष्य हूँ, (इसलिये) आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये ।'

जब इस प्रकार अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय ग्रहण करते है, तब करुणासागर व्रजेन्द्रनन्दन अनेक युक्तियो और

प्रमाणोसहित उपदेश देते हुए अन्तमे अपने उपदेशका इस प्रकार उपसंहार करते है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गीता १८ । ६६)

'सब धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मै तुझको सम्पूर्ण पापोसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

यहाँ भगवान्‌की शिक्षाका पर्यवसान शरणागतिमे है, यही देवकीनन्दनका चरम उपदेश है—इसके बाद केवल अधिकारी तथा गीतामाहात्म्यकी चर्चा है। उपर्युक्त श्लोकमे 'शरण्य' (शरण लेनेके योग्य) एकमात्र अखिल गुणनिधि वासुदेव श्रीकृष्ण ही है, और शरणागत (शरण होनेवाले जीव उपलक्षित) श्रीअर्जुन है, फल—सम्पूर्ण पापोका नाश तथा कल्याणकी प्राप्ति है और साधन 'शरण' है—

अब शरण शब्दके अर्थके विषयमे कुछ विचार किया जाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामे 'शरण' शब्द चार जगह आते है। यथा-क्रमसे उनका अर्थ यह होता है—

(१) गीता अ० २ श्लो० ४९ मे 'शरण' शब्दसे 'आश्रय' लिया जाता है।

(२) गीता अ० ९ श्लो० १८—यहाँ 'शरणम्' शब्दका अर्थ—एकमात्र भगवान् शरणयोग्य—अथवा शरणरूप भगवान् है।

(३) गीता अ० १८ श्लो० ६२—यहाँ जो 'सर्वभावेन शरणं गच्छ' कहा है इसका तात्पर्य यह है कि सब प्रकारसे अर्थात् मन, वाणी और शरीरसे भगवत्-शरणको प्राप्त हो ।

(४) गीता अ० १८ श्लो० ६६ मे जो 'मामेकं शरणं व्रज' कहा है, उसका अर्थ है कि केवल एक मेरी ही शरण ले ।

इनके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीतामे शरणागतका वर्णन दूसरे शब्दोमे कई स्थानोपर मिलता है । जैसे—

१—गीता अ० ७ श्लो० १४ 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' जो मेरी शरणमें आता है वह मायाको उल्लंघन कर जाता है अर्थात् संसारसे तर जाता है ।

२—गीता अ० ७ श्लो० १५ 'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः' दुराचारी नराधम मूढ़ लोग मेरी शरण नहीं लेते ।

३—गीता अ० १५ श्लो० ४ 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' उस आदिपुरुष नारायणकी शरण हूँ ।

इत्यादि अनेक वचनोसे शरणकी महिमा गीतामें वर्णित है । शरणागतिके साधनमे कहीं भी स्वाधीनता नही रहती और न कुछ छिपा ही रहता है । पूर्णतया उन्मुक्त हृदयसे आत्मसमर्पणका नाम 'शरण' है । जबतक शरणागत भक्त किसी भी अंशमे अपनेको स्वतन्त्र, किसी भी वस्तुको अपनी तथा किसी भी क्रियामे अपने कर्तृत्वाभिमानका भाव रखता है, तबतक शरणागतिमें त्रुटि ही है । शरणागत भक्त तो अपने आपसहित अपना सर्वस्व भगवान्के चरणोमे अर्पण कर देता है—'सर्वभावेन शरणं गच्छ ।' और वह

शरणागत भक्त ऐसा बन जाता है जैसे जड़ वस्तु अपनी सत्ता, ममता, अहंताका कुछ भी ध्यान नहीं रखकर चेतनके अधीन काम करती है, वैसे ही शरणागत भक्त प्रभुके अधीन हुआ अपनी सत्ता, ममता, अहंताको भुलाकर प्रभु जैसे चलाते है, वैसे ही चलता है। वह प्रभुके हाथकी कठपुतली बन जाता है। उस समय उस पुरुषका व्यवहार ऐसा ही होता है जैसा इस उक्तिमे कहा है—

'त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।'

वास्तवमे जो भगवत्-शरण नहीं है, उनका यह कथन दम्भमात्र है। जो वास्तवमे भगवान्‌की शरण है, वह कुछ कहते नहीं, पर उनका व्यवहार इस उक्तिके अनुरूप ही होता है। अतएव शरणका अर्थ प्रभुके भावानुसार अथवा आज्ञानुसार कार्यो-का करना तथा कर्तव्याकर्तव्यमे अपनी बुद्धिके निर्णयको त्यागकर भगवत्-निर्णयको ही मान्य करना है। गीतामे अर्जुनने भी शरण शब्दसे यही भाव प्रकाशित किया है, जैसे—

व्रजजनवल्लभ कमलनेत्र श्रीकृष्णद्वारा वर्णित समस्त उपदेशोका सार यही है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

वैष्णवोने इसीको सर्वोत्कृष्ट उपदेश अथवा सर्वोच्च श्लोक कहा है। यदि कोई यह जानना चाहे कि समस्त गीतोक्त उपदेशका सार यह श्लोक कैसे है तो उत्तरमे भगवत्-वचन ही प्रमाण है। गीता अ० १८ श्लो० ६४ मे भगवान्‌ने कहा है कि—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

'हे अर्जुन ! सम्पूर्ण गोपनीयोसे भी अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनोंको (तू) फिर भी सुन (क्योंकि तू) मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन (मै) तेरेलिये कहूँगा ।' इस उपर्युक्त श्लोकमे 'गुह्यतमम्' शब्द दिया है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि सब उपदेशोका सारभूत उपदेश आगे कहनेवाले है और उसीको भगवान्ने अ० १८ के ६५ तथा ६६ के श्लोकमे कहा है ।

भगवान् यहॉ अपने उपदेशको समाप्त करके अर्जुनकी परीक्षाके लिये जब अध्याय १८ के श्लोक ७२ मे पूछते हैं तब अर्जुन सक्षेपमे एक ही शब्दमे उस सर्वोत्कृष्ट श्लोकका अर्थ अथवा शरणका तात्पर्य बतलाते है—'करिष्ये वचनं तव' (अ० १८ श्लो० ७३) 'आपकी आज्ञापालन करूँगा ।' बस, संक्षेपमे 'शरणका' सब तात्पर्य इसके अन्दर आ जाता है । इस स्थलपर भगवान्ने भी अपने उपदेशको समाप्त कर दिया, क्योकि अब अर्जुन भगवान्के भावको ठीक-ठीक समझ गये । सच्चे अनन्यशरण भक्तका अपने लिये अपना कर्तव्य अथवा उसे अपने उद्धारकी चिन्ता कुछ भी नही रह जाती । वह तो एक बाजेके समान है, बजानेवाला जिस प्रकार चाहे वैसे ही बजा सकता है, जिस रागको वह निकालना चाहता है वही राग निकलता है । अपने हानि-लाभ, जीवन-मरण, मान-अपमानकी चिन्ता उसे नही रहती । महात्मा मंगलनाथजी स्वामी कहा करते थे कि 'कल्याणके अनेक मार्ग है और सब ही ठीक है किन्तु उन सबमे शरणागतिका मार्ग अलौकिक है ।' अब यहॉ यह प्रश्न उठता है कि इसे अलौकिक क्यो कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि अन्य मार्गोमे साधनका भार और

कर्तव्य साधकके सिरपर रहता है। यहाँ शरणागतिमे सब भार अपने प्रभुके सिरपर रहता है। वहाँ अपनी चिन्ता स्वयं करनी पड़ती है, किन्तु यहाँ शरणागत भक्तकी चिन्ता भगवान्‌को रहती है; भक्त तो निश्चिन्त रहता है। इसी आशयपर एक भक्तने कहा है—'व्यास भरोसे कुँवरके सोवत पाँव पसार' इसके अतिरिक्त वहाँ साधक अज्ञानजन्य ममतामे आसक्ति रहनेसे गिर भी जाता है; पर यहाँ शरणागत भक्तके रक्षक स्वयं त्रिभुवनपति भगवान् रहते है, फिर गिरनेका भय कैसे हो सकता है ? यहाँ तो शुकदेव स्वामीके यह वचन चरितार्थ होते है 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भयाः' 'आपके द्वारा रक्षित हुए निर्भय विचरते है।' शरणागत भक्तका रक्षण प्रभु उसी प्रकार करते हैं जैसे एक छोटे स्तन्यपायी बालककी रक्षा और देखभाल जननी करती है। माता भी परिमित शक्तिवाली होनेके कारण सर्वथा रक्षा नही कर सकती, पर यहाँ तो अपरिमित शक्तिवाले रक्षक है। अतएव शरणागति कल्याणका अलौकिक मार्ग है। भगवान्‌की शरण नीचातिनीच भी ले सकता है। सच्चे हृदयसे शरण लेनेके बाद कोई दुराचारी नही रह सकता। इधर भगवान् भी नीचातिनीचको शरण देनेसे मुख नही मोडते, अतएव निर्भय होकर अपने पापोके समूहको आगे करके विभीषणकी भाँति प्रभुके चरणोमे अपनेको समर्पण कर देना चाहिये, जैसे विभीषणजीने कहा है—

श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन, सरन सुखद रघुबीर॥

बोलो शरणागतवत्सल भगवान्‌की जय !
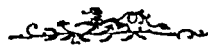
कर्मतत्त्व

सांसारिक सभी जीवोंको कभी-न-कभी और किसी-न-किसी प्रकार रोगसे ग्रस्त होना ही पडता है। मनुष्येतर प्राणियोंके लिये तो कुछ कहना नहीं है पर मनुष्योंको किसी प्रकार भी रोग आकर प्राप्त होनेपर घबराना नहीं चाहिये। क्योंकि जीवोंको जो भी रोग आकर प्राप्त होता है वह अपने किये हुए कर्मानुसार ही प्राप्त होता है, चाहे उस रोगका कारण दृष्ट हो या अदृष्ट। भगवान् स्वयं किसीको सुख या दुःख नहीं पहुँचाते। जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है, सब अपने किये हुए कर्मानुसार भगवान्‌द्वारा प्रेरित होता है। यदि यह प्रश्न उपस्थित हो कि सुख-दुःख कौन देता है तो उत्तरमे कहना है कि देनेवाले भगवान् ही हैं पर जीव जैसा कर्म करता है तदनुसार ही भोग प्राप्त होता है। कर्म स्वयं तो जडरूप है और क्रियाके साथ-साथ स्वरूपसे नाश भी हो जाता है। कर्म स्वयं अपने-आप फल नहीं देता, परन्तु निष्फल भी नहीं जाता। बीजरूपसे संस्कार छोड़ जाता है। तदनुसार भगवान्-द्वारा उसका फल मिलता है। जैसे कोई चोरी करता है तो चोरी-रूप कर्म स्वयं दण्ड नहीं देता परन्तु राजा उस चोरीका फलरूप दण्ड देता है। यहाँ यदि कोई कहे कि भगवान् दण्ड देनेकी चेष्टा

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

'हे धनञ्जय! मेरे अतिरिक्त किञ्चित्मात्र भी दूसरी वस्तु नही है, यह सम्पूर्ण (जगत्) सूत्रमे (सूत्रके) मणियोंके सदृश मुझमे गुँथा हुआ है।'

सर्वत्र सर्वरूप भगवान्को देखकर बारंबार प्रसन्न होना चाहिये। चाहे जैसा भी दुःख-सुख, हानि-लाभ, रोग-शोक, मान-अपमान आकर प्राप्त हो, भगवत्‌रूप समझकर ही उसका आलिङ्गन करना चाहिये। एक भक्तने कहा है—

देख दुःखका वेश धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ॥
नाथ! छिपा लो तुम मुँह अपना चाहे अति अँधियारेमें।
मैं लूँगा पहचान तुम्हें इक कोनेमें जग सारेमें॥
रोग, शोक, धन-हानि, दुःख, अपमान घोर, अति दारुण क्लेश।
सबमें तुम, सब ही है तुममें अथवा सब तुम्हरे ही वेश॥
तुम्हरे विना नहीं कुछ भी जब तब फिर मैं किसलिये डरूँ।
मृत्युसाज सज यदि आओ तो चरण पकड़ सानन्द मरूँ॥
दो दर्शन चाहे जैसा भी दुःख-वेश धारणकर नाथ।
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ॥